॥ श्रीहरिः ॥

135

महर्षि पतञ्जलिकृत

योग-दर्शन

हिन्दी-व्याख्यासहित

व्याख्याकार

हरिकृष्णदास गोयन्दका

135

ॐ

पातञ्जलयोगदर्शन

(साधारण हिंदी-व्याख्यासहित)

टीकाकार—

हरिकृष्णदास गोयन्दका

गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २००७ से २०५२ तक	२,२५,२५०
सं० २०५३ इक्कीसवाँ संस्करण	१०,०००
	योग २,३५,२५०

मूल्य—सात रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
दूरभाष—३३४७२१

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रथम संस्करणका निवेदन

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥
मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

योगदर्शन एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और साधकोंके लिये परम उपयोगी शास्त्र है। इसमें अन्य दर्शनोंकी भाँति खण्डन-मण्डनके लिये युक्तिवादका अवलम्बन न करके सरलतापूर्वक बहुत ही कम शब्दोंमें अपने सिद्धान्तका निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थपर अबतक संस्कृत, हिंदी और अन्यान्य भाषाओंमें बहुत भाष्य और टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। भोजवृत्ति और व्यासभाष्यके अनुवाद भी हिंदी-भाषामें कई स्थानोंसे प्रकाशित हो चुके हैं। इसके सिवा 'पातञ्जलयोग-प्रदीप' नामक ग्रन्थ स्वामी ओमानन्दजीका लिखा हुआ भी प्रकाशित हो चुका है, इसमें व्यासभाष्य और भोजवृत्तिके सिवा दूसरे-दूसरे योगविषयक शास्त्रोंके भी बहुत-से प्रमाण संग्रह करके एवं उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीतादि सद्ग्रन्थोंके तथा दूसरे दर्शनोंके साथ भी समन्वय करके ग्रन्थको बहुत ही उपयोगी बनाया गया है। परंतु ग्रन्थका विस्तार अधिक है और मूल्य अधिक होनेके कारण सर्वसाधारणको सुलभ भी नहीं है। इन सब कारणोंको विचारकर पूज्यपाद भाईजी तथा श्रीजयदयालजीकी आज्ञासे मैंने इसपर यह 'साधारण हिंदी-भाषाटीका' लिखनी आरम्भ की थी। टीका थोड़े ही दिनोंमें लिखी जा चुकी थी, परंतु उसी समय 'कल्याण'के 'उपनिषदङ्क'का निकालना निश्चित हो गया; अतः ईशावास्योपनिषद्से लेकर श्वेताश्वतरोपनिषद्तक नौ उपनिषदोंकी टीका लिखनेका भार मुझपर आ पड़ा। इस कारण योगदर्शनकी टीकाका संशोधन-कार्य नहीं हो सका एवं प्रेसमें छापनेके लिये अवकाश नहीं रहा। इसके सिवा और भी व्यापार-सम्बन्धी काम हो गये, अतः प्रकाशनकार्यमें विलम्ब हुआ। इस समय सरकारका कागजोंपरसे कन्ट्रोल उठ जानेसे एवं प्रेसमें भी छपाईके लिये कुछ अवकाश मिल जानेसे यह टीका प्रकाशित की जा रही है।

यह तो पाठकगण जानते ही होंगे कि मैं न तो विद्वान् हूँ और न अनुभवी ही। अतः योगदर्शन-जैसे गम्भीर शास्त्रपर टीका लिखना मेरे-जैसे अल्प

मनुष्यके लिये सर्वथा अनधिकार चेष्टा है। तथापि मैंने इसपर अपने और मित्रोंके संतोषके लिये जैसा कुछ समझमें आया, वैसे लिखनेकी धृष्टता की है। इसके लिये अनुभवी विद्वान् सज्जनोंसे सानुनय प्रार्थना है कि इस टीकामें जहाँ जो त्रुटियाँ रह गयी हों, उनकी सूचना देनेकी कृपा करें, ताकि अगले संस्करणमें आवश्यक सुधार किया जा सके।

समाधिपाद

इस ग्रन्थके पहले पादमें योगके लक्षण, स्वरूप और उसकी प्राप्तिके उपायोंका वर्णन करते हुए चित्तकी वृत्तियोंके पाँच भेद और उनके लक्षण बतलाये गये हैं। वहाँ सूत्रकारने निद्राको भी चित्तकी वृत्तिविशेषके अन्तर्गत माना है (योग० १।१०), अन्य दर्शनकारोंकी भाँति इनकी मान्यतामें निद्रा वृत्तियोंका अभावरूप अवस्थाविशेष नहीं है। तथा विपर्ययवृत्तिका लक्षण करते समय उसे मिथ्याज्ञान बताया है। अतः साधारण तौरपर यही समझमें आता है कि दूसरे पादमें 'अविद्या' के नामसे जिस प्रधान क्लेशका वर्णन किया गया है (योग० २।५), वह और चित्तकी विपर्ययवृत्ति—दोनों एक ही हैं; परंतु गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह बात ठीक नहीं मालूम होती। ऐसा माननेसे जो-जो आपत्तियाँ आती हैं, उनका दिग्दर्शन सूत्रोंकी टीकामें कराया गया है (देखिये योग० १।८; २।३, ५ की टीका)। द्रष्टा और दर्शनकी एकतारूप अस्मिता-क्लेशके कारणका नाम 'अविद्या' है (योग० २।२४), वह अस्मिता चित्तकी कारण मानी गयी है (योग० १।४७; ४।४)। इस परिस्थितिमें अस्मिताके कार्यरूप चित्तकी वृत्ति अविद्या कैसे हो सकती है जो कि—अस्मिताकी भी कारणरूपा है, यह विचारणीय विषय है।

इस पादके सतरहवें और अठारहवें सूत्रोंमें समाधिके लक्षणोंका वर्णन बहुत ही संक्षेपमें किया गया है। उसके बाद इकतालीसवेंसे लेकर इस पादकी समाप्तितक इसी विषयका कुछ विस्तारसे पुनः वर्णन किया गया है, परन्तु विषय इतना गम्भीर है कि समाधिकी वैसी स्थिति प्राप्त कर लेनेके पहले उसका ठीक-ठीक भाव समझ लेना बहुत ही कठिन है। मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार उन सूत्रोंकी टीकामें विषयको समझानेकी चेष्टा की है, किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि इतनेसे ही पाठकोंको संतोष हो जायगा; क्योंकि सूत्रकारने आनन्दानुगत और अस्मितानुगत समाधिका स्वरूप यहाँ स्पष्ट शब्दोंमें नहीं बताया। इसी प्रकार ग्रहण और ग्रहीताविषयक समाधिका विवेचन भी स्पष्ट

शब्दोंमें नहीं किया; अतः विषय बहुत ही जटिल हो गया है। यही कारण है कि बड़े-बड़े टीकाकारोंका सम्प्रज्ञातसमाधिके स्वरूप-सम्बन्धी विवेचन करनेमें मतभेद हो गया है, किसीके भी निर्णयसे पूरा संतोष नहीं होता। मैंने यथासाध्य पूर्वापरके सम्बन्धकी संगति बैठाकर विषयको सरल बनानेकी चेष्टा तो की है, तथापि पूरी बात तो किसी अनुभवी महापुरुषके कथनानुसार श्रद्धापूर्वक अभ्यास करनेसे वैसी स्थिति प्राप्त होनेपर ही समझमें आ सकती है और तभी पूरा संतोष हो सकता है, यह मेरी धारणा है।

प्रधानतया योगके तीन भेद माने गये हैं—एक सविकल्प, दूसरा निर्विकल्प और तीसरा निर्बीज। इस पादमें निर्बीज समाधिका उपाय प्रधानतया पर-वैराग्यको बताकर (योग० १।१८) उसके बाद दूसरा सरल उपाय ईश्वरकी शरणागतिको बतलाया है (योग० १।२३), श्रद्धालु आस्तिक साधकोंके लिये यह बड़ा ही उपयोगी है। ईश्वरका महत्त्व स्वीकार कर लेनेके कारण इनके सिद्धान्तमें साधारण बद्ध और मुक्त पुरुषोंकी ईश्वरसे भिन्नता तथा अनेकता सिद्ध होती है। योगदर्शनकी तात्त्विक मान्यता प्रायः सांख्यशास्त्रसे मिलती-जुलती है। कई लोग यद्यपि सांख्यशास्त्रको अनीश्वरवादी बतलाते हैं, परंतु सांख्यशास्त्रपर भलीभाँति विचार करनेपर यह कहना ठीक मालूम नहीं होता; क्योंकि सांख्यदर्शनके तीसरे पादके ५६ वें और ५७ वें सूत्रोंमें स्पष्ट ही साधारण पुरुषोंकी अपेक्षा ईश्वरकी विशेषता स्वीकार की गयी है। अतः सांख्य और योगके तात्त्विक विवेचनमें वर्णनशैलीके अतिरिक्त और कोई मतभेद प्रतीत नहीं होता।

उपर्युक्त तीन भेदोंमेंसे सम्प्रज्ञातयोगके दो भेद हैं। उनमें जो सविकल्प योग है, वह तो पूर्वावस्था है, उसमें विवेकज्ञान नहीं होता। दूसरा जो निर्विकल्पयोग है, जिसे निर्विचार समाधि भी कहते हैं; वह जब निर्मल हो जाता है (योग० १।४७), उस समय उसमें विवेकज्ञान प्रकट होता है, वह विवेकज्ञान पुरुषख्यातितक हो जाता है (योग० २।२८; ३।३५) जो कि पर-वैराग्यका हेतु है (योग० १।१६); क्योंकि प्रकृति और पुरुषके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होनेके साथ ही साधककी समस्त गुणोंमें और उनके कार्यमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाता है। तब चित्तमें कोई भी वृत्ति नहीं रहती, यह सर्ववृत्तिनिरोधरूप निर्बीज समाधि है (योग० १।५१)। इसीको असम्प्रज्ञात-योग तथा धर्ममेघ समाधि (योग० ४।२९) भी कहते हैं, इसकी विस्तृत व्याख्या यथास्थान की गयी है। निर्बीज समाधि ही योगका अन्तिम

लक्ष्य है, इसीसे आत्माकी स्वरूपप्रतिष्ठा या यों कहिये कि कैवल्यस्थिति होती है (योग० ४ । ३४) ।

निरोध-अवस्थामें चित्तका या उसके कारणरूप तीनों गुणोंका सर्वथा नाश नहीं होता; किंतु जड-प्रकृति-तत्त्वसे जो चेतनतत्त्वका अविद्याजनित संयोग है, उसका सर्वथा अभाव हो जाता है।

साधनपाद

इस दूसरे पादमें अविद्यादि पाँच क्लेशोंको समस्त दुःखोंका कारण बताया गया है, क्योंकि इनके रहते हुए मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वे संस्काररूपसे अन्तःकरणमें इकट्ठे होते रहते हैं, उन संस्कारोंके समुदायका नाम ही कर्माशय है। इस कर्माशयके कारणभूत क्लेश जबतक रहते हैं, तबतक जीवको उनका फल भोगनेके लिये नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्मना और मरना पड़ता है एवं पापकर्मका फल भोगनेके लिये घोर नरकोंकी यातना भी सहन करनी पड़ती है। पुण्यकर्मोंका फल जो अच्छी योनियोंकी और सुखभोग-सम्बन्धी सामग्रीकी प्राप्ति है वह भी विवेककी दृष्टिसे दुःख ही है (योग० २ । १५), अतः समस्त दुःखोंका सर्वथा अत्यन्त अभाव करनेके लिये क्लेशोंका मूलोच्छेद करना परम आवश्यक है। इस पादमें उनके नाशका उपाय निश्चल और निर्मल विवेकज्ञानको (योग० २ । २६) तथा उस विवेकज्ञानकी प्राप्तिका उपाय योगसम्बन्धी आठ अङ्गोंके अनुष्ठानको (योग० २ । २८) बताया है। इसलिये साधकको चाहिये कि बताये हुए योगसाधनोंका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करे।

विभूतिपाद

इस तीसरे विभूतिपादमें धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंका एकत्रित नाम 'संयम' बतलाकर भिन्न-भिन्न ध्येय पदार्थोंमें संयमका भिन्न-भिन्न फल बतलाया है; उनको योगका महत्त्व, सिद्धि और विभूति भी कहते हैं। इनका वर्णन यहाँ ग्रन्थकारने समस्त ऐश्वर्यमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये ही किया है। यही कारण है कि इस पादके सैंतीसवें, पचासवें और इक्यावनवेंमें एवं चौथे पादके उन्तीसवें सूत्रमें उनको समाधिमें विघ्नरूप बताया है। अतः साधकको भूलकर भी सिद्धियोंके प्रलोभनमें नहीं पड़ना चाहिये।

कैवल्यपाद

इस चौथे पादमें कैवल्यपाद द्वारा करनेयोग्य चित्तके स्वरूपका प्रतिपादन

किया गया है (योग० ४। २६)। साथ ही योगदर्शनके सिद्धान्तमें जो-जो शङ्काएँ हो सकती हैं, उनका समाधान किया गया है। अन्तमें धर्ममेघ-समाधिका वर्णन करके (योग० ४। २९) उसका फल क्लेश और कर्मोंका सर्वथा अभाव (योग० ४। ३०) तथा गुणोंके परिणाम-क्रमकी समाप्ति अर्थात् पुनर्जन्मका अभाव बताया गया है (योग० ४। ३२) एवं पुरुषको मुक्ति प्रदान करके अपना कर्तव्य पूरा कर चुकनेके कारण गुणोंके कार्यका अपने कारणमें विलीन हो जाना अर्थात् पुरुषसे सर्वथा अलग हो जाना गुणोंकी कैवल्य-स्थिति और उन गुणोंसे सर्वथा अलग होकर अपने रूपमें प्रतिष्ठित हो जाना पुरुषकी कैवल्य-स्थिति बतलाकर (योग० ४। ३४) ग्रन्थकी समाप्ति की गयी है।

विशेष वक्तव्य

इस प्रकार इस ग्रन्थमें बहुत ही थोड़े शब्दोंमें आत्मकल्याणके बहुत ही उपयोगी और प्रत्यक्ष उपाय बताये गये हैं।

पाठकोंको चाहिये कि ग्रन्थका रहस्य समझनेके लिये उसे आद्योपान्त पढ़कर उसपर विचार करें। जिस किसी विषयका वर्णन प्रकारान्तरसे कई जगह हुआ हो उसके सभी स्थलोंपर दृष्टि डालकर पूर्वापरके विरोधाभासको मिटाकर उसकी संगति बैठावें। जबतक अपने मनमें पूरा संतोष न हो जाय, तबतक उसकी खोज करते रहें। दूसरे टीकाकारोंने उसकी संगति किस प्रकार लगायी है, वर्तमान अनुभवी सज्जनोंका उस विषयपर क्या कहना है और मूलग्रन्थसे सरलतापूर्वक बिना किसी प्रकारकी खींचतानके क्या भाव झलकता है—इन सब बातोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर कुछ समाधान हो सकता है।

जैसे विवेकज्ञानका स्वरूप, उसके अवस्था-भेद और फल आदिका आशय समझना हो तो प्रथम पादके ४८ और ४९, द्वितीय पादके २६ से २८, तृतीय पादके ३५, ३६, ४९, ५२, ५३ और ५४ तथा चतुर्थ पादके २५, २६ और २९—इन सब सूत्रोंको सम्मुख रखकर उनपर विचार करना चाहिये। यदि अविद्याके स्वरूपका निर्णय करना हो तो प्रथम पादके ८, द्वितीय पादके ३, ४, ५, १२, २४ और २५ तथा चतुर्थ पादके ११, २८ और ३०—इन सब सूत्रोंको सामने रखकर विचार करें। यदि समाधिके स्वरूपको उसके अवान्तर भेदोंसहित भलीभाँति समझना हो तो प्रथम पादके १७ से २२ और ४१ से ५१, तृतीय पादके ३, ९ से १२, ३५, ३७, ४४, ४७, ४९ और ५० तथा चतुर्थ पादके १, २९, ३०, ३२ और ३४—इन सब सूत्रोंपर दृष्टिपात

करके गम्भीरतापूर्वक भलीभाँति विचार करना चाहिये। इसी प्रकार अन्यान्य प्रसङ्गोंका विवेचन करते समय भी तद्विषयक समस्त सूत्रोंपर ध्यान देनां चाहिये। ऐसा करनेसे ग्रन्थका आशय समझनेमें बड़ी सुगमता होती है, यह मेरा अनुमान है।

इस ग्रन्थमें पुरुषविशेष ईश्वरका प्रतिपादन करके उसकी शरणागतिको आत्मसाक्षात्कारका कारण बताया है, परंतु उस ईश्वरको जाननेका कोई भिन्न साधन नहीं बताया गया। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वहाँतक न तो मन-बुद्धि आदि प्राकृत तत्त्वोंकी पहुँच है और न उस प्रकृतिस्थ पुरुषकी हीं। वह एक प्रकृतिसे अलग विशुद्ध आत्मतत्त्वसे ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है, जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा है—

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

(२।१५)

'जब योगी यहाँ दीपकके सदृश (प्रकाशमय) आत्मतत्त्वके द्वारा ब्रह्मतत्त्वको भी भलीभाँति प्रत्यक्ष देख लेता है, उस समय वह उस अजन्मा, निश्चल, समस्त तत्त्वोंसे विशुद्ध परमदेव परमात्माको जानकर सब बन्धनोंसे सदाके लिये छूट जाता है।

कोई भी सच्चा सम्बन्ध सजातीय तत्त्वसे ही हो सकता है, विजातीयसे नहीं। ईश्वरका सजातीय तत्त्व आत्मा ही है, अतः उसीसे उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है, अन्य जड तत्त्वोंसे नहीं।

इस शास्त्रमें प्रकृतिके चौबीस भेद एवं आत्मा और ईश्वर—इस प्रकार कुल छब्बीस तत्त्व माने गये हैं; उनमें प्रकृति तो जड और परिणामशील है अर्थात् निरन्तर परिवर्तन होना उसका धर्म है तथा मुक्त पुरुष और ईश्वर—ये दोनों नित्य, चेतन, स्वप्रकाश, असङ्ग, देशकालातीत, सर्वथा निर्विकार और अपरिणामी हैं। प्रकृतिमें बँधा हुआ पुरुष अल्पज्ञ, सुख-दुःखोंका भोक्ता, अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेवाला और देशकालातीत होते हुए भी एक देशी-सा माना गया है।

इसके सिवा योगशास्त्रसे वर्णित साधनोंका प्रायः उपनिषद्, गीता, भागवत आदि सभी धर्मग्रन्थ समर्थन करते हैं। अतः प्रत्येक साधकको इस ग्रन्थमें बताये हुए साधनोंका श्रद्धापूर्वक सेवन करना चाहिये।

विनीत—हरिकृष्णदास गोयन्दका

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

पातञ्जलयोगदर्शनके प्रधान विषयोंकी सूची

समाधिपाद—१

साधनपाद—२

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

पातञ्जलयोगदर्शन

साधारण हिंदी-भाषाटीकासहित

समाधिपाद—१

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अथ=अब; **योगानुशासनम्**=परम्परागत योगविषयक शास्त्र (आरम्भ करते हैं)।

व्याख्या—इस सूत्रमें महर्षि पतञ्जलिने योगके साथ अनुशासन पदका प्रयोग करके योगशिक्षाकी अनादिता सूचित की है और अथ शब्दसे उसके आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा करके योगसाधनाकी कर्तव्यता सूचित की है ॥ १ ॥

सम्बन्ध—*इस प्रकारके योगशास्त्रके वर्णनकी प्रतिज्ञा करके अब योगके सामान्य लक्षण बतलाते हैं—*

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

चित्तवृत्तिनिरोधः=चित्तकी वृत्तियोंका निरोध (सर्वथा रुक जाना); **योगः**=योग है।

व्याख्या—इस ग्रन्थमें प्रधानतासे चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको ही 'योग' नामसे कहा गया है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—*योग शब्दकी परिभाषा करके अब उसका सर्वोपरि फल बतलाते हैं—*

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

तदा=उस समय; **द्रष्टुः**=द्रष्टाकी; **स्वरूपे**=अपने रूपमें; **अवस्थानम्**=स्थिति हो जाती है।

व्याख्या—जब चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो जाता है, उस समय द्रष्टा

****

(आत्मा) की अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है; अर्थात् वह कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है (योग॰ ४ । ३४) ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—*क्या चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेके पहले द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित नहीं रहता ?—इसपर कहते हैं—*

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

इतरत्र=दूसरे समयमें (द्रष्टाका); **वृत्तिसारूप्यम्**=वृत्तिके सदृश स्वरूप होता है।

व्याख्या—जबतक योग-साधनोंके द्वारा चित्तकी वृत्तियोंका निरोध नहीं हो जाता, तबतक द्रष्टा अपने चित्तकी वृत्तिके ही अनुरूप अपना स्वरूप समझता रहता है, उसे अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान नहीं होता। अतः चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग अवश्य कर्तव्य है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—*चित्तकी वृत्तियाँ असंख्य होती हैं, अतः उनको पाँच श्रेणियोंमें बाँटकर सूत्रकार उनका स्वरूप बतलाते हैं—*

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

(उपर्युक्त) **क्लिष्टाक्लिष्टाः**=क्लिष्ट और अक्लिष्ट (भेदोंवाली); **वृत्तयः**=वृत्तियाँ; **पञ्चतय्यः**=पाँच प्रकारकी (होती हैं)।

व्याख्या—ये चित्तकी वृत्तियाँ आगे वर्णन किये जानेवाले लक्षणोंके अनुसार पाँच प्रकारकी होती हैं तथा हर प्रकारकी वृत्तिके दो भेद होते हैं। एक तो क्लिष्ट यानी अविद्यादि क्लेशोंको पुष्ट करनेवाली और योगसाधनमें विघ्नरूप होती हैं तथा दूसरी अक्लिष्ट यानी क्लेशोंको क्षय करनेवाली और योगसाधनमें सहायक होती हैं। साधकको चाहिये कि इस रहस्यको भलीभाँति समझकर पहले अक्लिष्ट वृत्तियोंसे क्लिष्ट वृत्तियोंको हटावे, फिर उन अक्लिष्ट वृत्तियोंका भी निरोध करके योग सिद्ध करे ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—*उक्त पाँच प्रकारकी वृत्तियोंके लक्षणोंका वर्णन करनेके लिये पहले उनके नाम बतलाते हैं—*

****

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः=(१) प्रमाण, (२) विपर्यय, (३) विकल्प, (४) निद्रा, (५) स्मृति—ये पाँच हैं।

व्याख्या—इन पाँचोंके स्वरूपका वर्णन स्वयं सूत्रकारने अगले सूत्रोंमें किया है, अतः यहाँ उनकी व्याख्या नहीं की गयी है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—*उपर्युक्त पाँच प्रकारकी वृत्तियोंमेंसे प्रमाणवृत्तिके भेद बतलाये जाते हैं—*

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः=प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—(ये तीन), **प्रमाणानि**=प्रमाण हैं।

व्याख्या—प्रमाणवृत्ति तीन प्रकारकी होती है; उसको इस प्रकार समझना चाहिये—

(१) प्रत्यक्ष-प्रमाण बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके जाननेमें आनेवाले जितने भी पदार्थ हैं, उनका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके साथ बिना किसी व्यवधानके सम्बन्ध होनेसे जो भ्रान्ति तथा संशयरहित ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष अनुभवसे होनेवाली प्रमाणवृत्ति है। जिन प्रत्यक्ष दर्शनोंसे संसारके पदार्थोंकी क्षणभङ्गुरताका निश्चय होकर या सब प्रकारसे उनमें दुःखकी प्रतीति होकर (योग० २। १५) मनुष्यका सांसारिक पदार्थोंमें वैराग्य हो जाता है, जो चित्तकी वृत्तियोंको रोकनेमें सहायक हैं, जिनसे मनुष्यकी योगसाधनमें श्रद्धा और उत्साह बढ़ते हैं, उनसे होनेवाली प्रमाणवृत्ति तो अक्लिष्ट है तथा जिन प्रत्यक्ष दर्शनोंसे मनुष्यको सांसारिक पदार्थ नित्य और सुखरूप होते हैं, भोगोंमें आसक्ति हो जाती है, जो वैराग्यके विरोधी भावोंको बढ़ानेवाले हैं, उनसे होनेवाली प्रमाणवृत्ति क्लिष्ट है।

(२) अनुमान-प्रमाण—किसी प्रत्यक्ष दर्शनके सहारे युक्तियोंद्वारा जो अप्रत्यक्ष पदार्थके स्वरूपका ज्ञान होता है, वह अनुमानसे होनेवाली प्रमाणवृत्ति है। जैसे धूमको देखकर अग्निकी विद्यमानताका ज्ञान होना, नदीमें

बाढ़ आया देखकर दूर-देशमें वृष्टि होनेका ज्ञान होना—इत्यादि। इनमें भी जिन अनुमानोंसे मनुष्यको संसारके पदार्थोंकी अनित्यता, दुःखरूपता आदि दोषोंका ज्ञान होकर उनमें वैराग्य होता है और योगके साधनोंमें श्रद्धा बढ़ती है, जो आत्मज्ञानमें सहायक हैं, वे सब वृत्तियाँ तो अक्लिष्ट हैं और उनके विपरीत वृत्तियाँ क्लिष्ट हैं।

(३) **आगम-प्रमाण**—वेद, शास्त्र और आप्त (यथार्थ वक्ता) पुरुषोंके वचनको 'आगम' कहते हैं। जो पदार्थ मनुष्यके अन्तःकरण और इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष नहीं है एवं जहाँ अनुमानकी भी पहुँच नहीं है, उसके स्वरूपका ज्ञान वेद, शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंसे होता है, वह आगमसे होनेवाली प्रमाणवृत्ति है। जिस आगम-प्रमाणसे मनुष्यका भोगोंमें वैराग्य होता है (गीता ५।२२) और योगसाधनोंमें श्रद्धा-उत्साह बढ़ते हैं, वह तो अक्लिष्ट है और जिस आगम-प्रमाणसे भोगोंमें प्रवृत्ति और योग-साधनोंमें अरुचि हो, जैसे स्वर्गलोकके भोगोंकी बड़ाई सुनकर उनमें और उनके साधनरूप सकाम कर्मोंमें आसक्ति और प्रवृत्ति होती है, वह क्लिष्ट है॥ ७॥

सम्बन्ध—*प्रमाणवृत्तिके भेद बतलाकर अब विपर्ययवृत्तिके लक्षण बतलाते हैं*—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

अतद्रूपप्रतिष्ठम्=जो उस वस्तुके स्वरूपमें प्रतिष्ठित नहीं है, ऐसा; **मिथ्याज्ञानम्**=मिथ्या ज्ञान; **विपर्ययः**=विपर्यय है।

व्याख्या—किसी भी वस्तुके असली स्वरूपको न समझकर उसे दूसरी ही वस्तु समझ लेना—यह विपरीत ज्ञान ही विपर्ययवृत्ति है—जैसे सीपमें चाँदीकी प्रतीति। यह वृत्ति भी यदि भोगोंमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाली और योगमार्गमें श्रद्धा-उत्साह बढ़ानेवाली हो तो अक्लिष्ट है, अन्यथा क्लिष्ट है।

जिन इन्द्रिय आदिके द्वारा वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होता है, उन्हींसे विपरीत ज्ञान भी होता है। यह मिथ्या ज्ञान भी कभी-कभी भोगोंमें वैराग्य करनेवाला हो जाता है। जैसे भोग्य पदार्थोंकी क्षणभङ्गुरताको देखकर,

अनुमान करके या सुनकर उनको सर्वथा मिथ्या मान लेना योग-सिद्धान्तके अनुसार विपरीतवृत्ति है; क्योंकि वे परिवर्तनशील होनेपर भी मिथ्या नहीं हैं तथापि यह मान्यता भोगीमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाली होनेसे अक्लिष्ट है।

कुछ महानुभावोंके मतानुसार विपर्ययवृत्ति और अविद्या—दोनों एक ही हैं, परंतु यह युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होता; क्योंकि अविद्याका नाश तो केवल असम्प्रज्ञातयोगसे ही होता है (योग० ४। २९-३०) जहाँ प्रमाणवृत्ति भी नहीं रहती। किंतु विपर्ययवृत्तिका नाश तो प्रमाणवृत्तिसे ही हो जाता है। इसके सिवा योगशास्त्रके मतानुसार विपर्यय ज्ञान चित्तकी वृत्ति है, किंतु अविद्या चित्तवृत्ति नहीं मानी गयी है; क्योंकि वह द्रष्टा और दृश्यके स्वरूपकी उपलब्धिमें हेतुभूत संयोगकी भी कारण है (योग० २। २३-२४) तथा अस्मिता और राग आदि क्लेशोंकी भी कारण है (योग० २। ४), इसके अतिरिक्त प्रमाणवृत्तिमें विपर्ययवृत्ति नहीं है, परंतु राग-द्वेषादि क्लेशोंका वहाँ भी सद्भाव है, इसलिये भी विपर्ययवृत्ति और अविद्याकी एकता नहीं हो सकती; क्योंकि विपर्ययवृत्ति तो कभी होती है और कभी नहीं होती, किंतु अविद्या तो कैवल्य-अवस्थाकी प्राप्तितक निरन्तर विद्यमान रहती है। उसका नाश होनेपर तो सभी वृत्तियोंका धर्मी स्वयं चित्त भी अपने कारणमें विलीन हो जाता है (योग० ४। ३२)। परंतु प्रमाणवृत्तिके समय विपर्ययवृत्तिका अभाव हो जानेपर भी न तो राग-द्वेषोंका नाश होता है तथा न द्रष्टा और दृश्यके संयोगका ही। इसके सिवा प्रमाणवृत्ति क्लिष्ट भी होती है; परंतु जिस यथार्थ ज्ञानसे अविद्याका नाश होता है, वह क्लिष्ट नहीं होता। अतः यही मानना ठीक है कि चित्तका धर्मरूप विपर्ययवृत्ति अन्य पदार्थ है तथा पुरुष और प्रकृतिके संयोगकी कारणरूपा अविद्या उससे सर्वथा भिन्न है॥ ८॥

सम्बन्ध—*अब विकल्पवृत्तिके लक्षण बतलाये जाते हैं*—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ ९॥

शब्दज्ञानानुपाती=जो ज्ञान शब्दजनित ज्ञानके साथ-साथ होनेवाला है;

(और) **वस्तुशून्यः**=जिसका विषय वास्तवमें नहीं है, वह; **विकल्पः**= विकल्प है ?

व्याख्या—केवल शब्दके आधारपर बिना हुए पदार्थकी कल्पना करनेवाली जो चित्तकी वृत्ति है, वह विकल्पवृत्ति है। यह भी यदि वैराग्यकी वृद्धिमें हेतु, योगसाधनोंमें श्रद्धा और उत्साह बढ़ानेवाली तथा आत्मज्ञानमें सहायक हो तो अक्लिष्ट है, अन्यथा क्लिष्ट है।

आगम-प्रमाणजनित वृत्तिसे होनेवाले विशुद्ध संकल्पोंके सिवा सुनी-सुनायी बातोंके आधारपर मनुष्य जो नाना प्रकारके व्यर्थ संकल्प करता रहता है, उन सबको विकल्पवृत्तिके ही अन्तर्गत समझना चाहिये।

विपर्ययवृत्तिमें तो विद्यमान वस्तुके स्वरूपका विपरीत ज्ञान होता है और विकल्पवृत्तिमें अविद्यमान वस्तुकी शब्दज्ञानके आधारपर कल्पना होती है, यही विपर्यय और विकल्पका भेद है।

जैसे कोई मनुष्य सुनी-सुनायी बातोंके आधारपर अपनी मान्यताके अनुसार भगवान्‌के रूपकी कल्पना करके भगवान्‌का ध्यान करता है, पर जिस स्वरूपका वह ध्यान करता है उसे न तो उसने देखा है, न वेद-शास्त्रसम्मत है और न वैसा कोई भगवान्‌का स्वरूप वास्तवमें है ही, केवल कल्पनामात्र ही है। यह विकल्पवृत्ति मनुष्यको भगवान्‌के चिन्तनमें लगानेवाली होनेसे अक्लिष्ट है; दूसरी जो भोगोंमें प्रवृत्त करनेवाली विकल्पवृत्तियाँ हैं, वे क्लिष्ट हैं। इसी प्रकार सभी वृत्तियोंमें क्लिष्ट और अक्लिष्टका भेद समझ लेना चाहिये॥ ९॥

सम्बन्ध—*अब निद्रावृत्तिके लक्षण बतलाये जाते हैं।*

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥ १०॥

अभावप्रत्ययालम्बना=अभावके ज्ञानका अवलम्बन (ग्रहण) करनेवाली; **वृत्तिः**=वृत्ति; **निद्रा**=निद्रा है।

व्याख्या—जिस समय मनुष्यको किसी भी विषयका ज्ञान नहीं रहता;

केवलमात्र ज्ञानके अभावकी ही प्रतीति रहती है, वह ज्ञानके अभावका ज्ञान जिस चित्तवृत्तिके आश्रित रहता है, वह निद्रावृत्ति है।* निद्रा भी चित्तकी वृत्तिविशेष है, तभी तो मनुष्य गाढ़ निद्रासे उठकर कहता है कि मुझे आज ऐसी गाढ़ निद्रा आयी जिसमें किसी बातकी कोई खबर नहीं रही। इस स्मृतिवृत्तिसे ही यह सिद्ध होता है कि निद्रा भी एक वृत्ति है, नहीं तो जगनेपर उसकी स्मृति कैसे होती।

निद्रा भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकारकी होती है। जिस निद्रासे जगनेपर साधकके मन और इन्द्रियोंमें सात्त्विकभाव भर जाता है, आलस्यका नाम-निशान नहीं रहता तथा जो योगसाधनमें उपयोगी और आवश्यक मानी गयी है। (गीता ६। १७) †, वह अक्लिष्ट है, दूसरे प्रकारकी निद्रा उस अवस्थामें परिश्रमके अभावका बोध कराकर विश्रामजनित सुखमें आसक्ति उत्पन्न करनेवाली होनेसे क्लिष्ट है॥ १०॥

सम्बन्ध—*अब स्मृतिवृत्तिके लक्षण बतलाये जाते हैं—*

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः=अनुभव किये हुए विषयका न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना; **स्मृतिः**=स्मृति है।

व्याख्या—उपर्युक्त प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा—इन चार प्रकारकी वृत्तियोंद्वारा अनुभवमें आये हुए विषयोंके जो संस्कार चित्तमें पड़े हैं, उनका पुनः किसी निमित्तको पाकर स्फुरित हो जाना ही स्मृति है। उपर्युक्त

---

* दूसरे दर्शनकार निद्राको वृत्ति नहीं मानते, सुषुप्ति-अवस्था मानते हैं; अतः यह लक्ष्य करानेके लिये 'निद्रा भी वृत्ति है', सूत्रमें 'वृत्तिः,' पदका प्रयोग किया गया है।

† युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।

चार प्रकारकी वृत्तियोंके सिवा इस स्मृतिवृत्तिसे जो संस्कार चित्तपर पड़ते हैं उनमें भी पुनः स्मृतिवृत्ति उत्पन्न होती है। स्मृतिवृत्ति भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों ही प्रकारकी होती है। जिस स्मरणसे मनुष्यका भोगोंमें वैराग्य होता है तथा जो योगसाधनोंमें श्रद्धा और उत्साह बढ़ानेवाला एवं आत्मज्ञानमें सहायक है, वह तो अक्लिष्ट है और जिससे भोगोंमें राग-द्वेष बढ़ता है, वह क्लिष्ट है।

स्वप्नको कोई-कोई स्मृतिवृत्ति मानते हैं, परंतु स्वप्नमें जाग्रत्‌की भाँति सभी वृत्तियोंका आविर्भाव देखा जाता है; अतः उसका किसी एक वृत्तिमें अन्तर्भाव मानना उचित प्रतीत नहीं होता॥ ११॥

सम्बन्ध—*यहाँतक योगकी कर्तव्यता, योगके लक्षण और चित्तवृत्तियोंके लक्षण बतलाये गये; अब उन चित्तवृत्तियोंके निरोधका उपाय बतलाते हैं—*

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

तन्निरोधः=उन (चित्तवृत्तियों) का निरोध; **अभ्यासवैराग्याभ्याम्**= अभ्यास और वैराग्यसे होता है।

व्याख्या—चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय हैं। चित्तवृत्तियोंका प्रवाह परम्परागत संस्कारोंके बलसे सांसारिक भोगोंकी ओर चल रहा है। उस प्रवाहको रोकनेका उपाय वैराग्य है और उसे कल्याणमार्गमें ले जानेका उपाय अभ्यास है * ॥ १२॥

सम्बन्ध—*उक्त दोनों उपायोंमेंसे पहले अभ्यासका लक्षण बतलाते हैं—*

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

तत्र=उन दोनोंमेंसे; **स्थितौ**=(चित्तकी) स्थिरताके लिये; **यत्नः**=जो

---

* गीतामें भी कहा है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते (६।३५)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! अभ्यास अर्थात् स्थितिके लिये बारम्बार यत्न करनेसे और वैराग्यसे मन वशमें होता है, इसलिये इसको अवश्य वशमें करना चाहिये।

***

प्रयत्न करना है, वह; **अभ्यासः**=अभ्यास है।

व्याख्या—जो स्वभावसे ही चञ्चल है ऐसे मनको किसी एक ध्येयमें स्थिर करनेके लिये बारम्बार चेष्टा करते रहनेका नाम 'अभ्यास' है। इसके प्रकार शास्त्रोंमें बहुत बतलाये गये हैं; इसी पादके ३२ वें सूत्रसे ३९ वेंतक अभ्यासके कुछ भेदोंका वर्णन है; उनमेंसे जिस साधकके लिये जो सुगम हो, जिसमें उसकी स्वाभाविक रुचि और श्रद्धा हो उसके लिये वही ठीक है॥ १३॥

सम्बन्ध—*अब अभ्यासके दृढ़ होनेका प्रकार बतलाते हैं—*

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

तु=परंतु; **सः**=वह (अभ्यास); **दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितः**=बहुत कालतक निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जानेपर; **दृढभूमिः**=दृढ़ अवस्थावाला होता है।

व्याख्या—अपने साधनके अभ्यासको दृढ़ बनानेके लिये साधकको चाहिये कि साधनमें कभी उकतावे नहीं। यह दृढ़ विश्वास रखे कि किया हुआ अभ्यास कभी भी व्यर्थ नहीं हो सकता, अभ्यासके बलसे मनुष्य निःसंदेह अपने लक्ष्यकी प्राप्ति कर लेता है। यह समझकर अभ्यासके लिये कालकी अवधि न रखे, आजीवन अभ्यास करता रहे, साथ ही यह भी ध्यान रखे कि अभ्यासमें व्यवधान (अन्तर) न पड़ने पावे, निरन्तर (लगातार) अभ्यास चलता रहे तथा अभ्यासमें तुच्छ बुद्धि न करे, उसकी अवहेलना न करे, बल्कि अभ्यासको ही अपने जीवनका आधार बनाकर अत्यन्त आदर और प्रेमपूर्वक उसे साङ्गोपाङ्ग करता रहे। इस प्रकार किया हुआ अभ्यास दृढ़ होता है * ॥ १४ ॥

---

* इस सूत्रका भाव गीतामें इस प्रकार आया है—

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ (६।२३)

'अर्थात् उस योगका अभ्यास बिना उकताये हुए चित्तसे निष्ठापूर्वक करते रहना चाहिये।'

****

सम्बन्ध—*अब वैराग्यके लक्षण आरम्भ करते हुए पहले अपर-वैराग्यके लक्षण बतलाते हैं—*

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य=देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी; **वशीकारसंज्ञा**=जो वशीकार नामक अवस्था है वह; **वैराग्यम्**=वैराग्य है।

व्याख्या—अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाले इस लोकके समस्त भोगोंका समाहार यहाँ 'दृष्ट' शब्दमें किया गया है और जो प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं हैं, जिनकी बड़ाई वेद, शास्त्र और भोगोंका अनुभव करनेवाले पुरुषोंसे सुनी गयी है, ऐसे भोग्य विषयोंका समाहार 'आनुश्रविक' शब्दमें किया गया है। उपर्युक्त दोनों प्रकारके भोगोंसे जब चित्त भलीभाँति तृष्णारहित हो जाता है, जब उसको प्राप्त करनेकी इच्छाका सर्वथा नाश हो जाता है, ऐसे कामनारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्थाविशेष है, वह 'अपर-वैराग्य' है॥ १५॥

सम्बन्ध—*अब पर-वैराग्यके लक्षण बतलाते हैं—*

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

पुरुषख्यातेः=पुरुषके ज्ञानसे; **गुणवैतृष्ण्यम्**=जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है; **तत्**=वह; **परम्**=पर-वैराग्य है।

व्याख्या—पहले बतलाये हुए चित्तकी वशीकार-संज्ञारूप वैराग्यसे जब साधककी विषयकामनाका अभाव हो जाता है और उसके चित्तका प्रवाह समानभावसे अपने ध्येयके अनुभवमें एकाग्र हो जाता है (योग० ३। १२), उसके बाद समाधि परिपक्व होनेपर प्रकृति और पुरुषविषयक विवेकज्ञान प्रकट होता है (योग० ३। ३५), उसके होनेसे जब साधककी तीनों गुणोंमें और उनके कार्यमें किसी प्रकारकी किंचिन्मात्र भी तृष्णा नहीं रहती; (योग० ४। २६),

****

जब वह सर्वथा आप्तकाम निष्काम हो जाता है (योग० २ । २७), ऐसी सर्वथा रागरहित अवस्थाको 'पर-वैराग्य' कहते हैं * ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार चित्तवृत्ति-निरोधके उपायोंका वर्णन करके अब चित्तवृत्ति-निरोधरूप निर्बीज-योगका स्वरूप बतलानेके लिये पहले उसके पूर्वकी अवस्थाका सम्प्रज्ञातयोगके नामसे अवान्तर भेदोंके सहित वर्णन करते हैं—

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्=वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—इन चारोंके सम्बन्धसे युक्त (चित्तवृत्तिका समाधान); **सम्प्रज्ञातः**= सम्प्रज्ञातयोग है।

व्याख्या—सम्प्रज्ञातयोगके ध्येय पदार्थ तीन माने गये हैं—(१) ग्राह्य (इन्द्रियोंके स्थूल और सूक्ष्म विषय), (२) ग्रहण (इन्द्रियाँ और अन्तःकरण) तथा (३) ग्रहीता (बुद्धिके साथ एकरूप हुआ पुरुष) (योग० १ । ४१)। जब ग्राह्य पदार्थोंके स्थूलरूपमें समाधि की जाती है, उस समय समाधिमें जबतक शब्द, अर्थ और ज्ञानका विकल्प वर्तमान रहता है, तबतक तो वह सवितर्क समाधि है; और जब इनका विकल्प नहीं रहता, तब वही निर्वितर्क कही जाती है। इसी प्रकार जब ग्राह्य और ग्रहणके सूक्ष्मरूपमें समाधि की जाती है उस समय समाधिमें जबतक शब्द, अर्थ और ज्ञानका विकल्प रहता है, तबतक वह सविचार और जब इनका विकल्प नहीं रहता, तब वही निर्विचार कही जाती है। जब निर्विचार समाधिमें विचारका सम्बन्ध तो नहीं रहता, परंतु आनन्दका अनुभव और अहङ्कारका सम्बन्ध रहता है, तबतक वह

---

* गीतामें भी योगारूढ़-अवस्थाका वर्णन करते हुए कहा है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

'जब योगी न तो इन्द्रियोंके विषयोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है तथा सब प्रकारके संकल्पोंका भलीभाँति त्याग कर देता है तब वह योगारूढ कहलाता है।'

आनन्दानुगता समाधि है और जब उसमें आनन्दकी प्रतीति भी लुप्त हो जाती है, तब वही केवल अस्मितानुगत समझी जाती है। यही निर्विचार समाधिकी निर्मलता है, इनका विस्तृत विचार इसी पादके ४१ वें सूत्रसे ४९ वेंतक किया गया है॥ १७॥

सम्बन्ध—*अब उस अन्तिम योगका स्वरूप बतलाते हैं, जिसके सिद्ध होनेपर द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है (योग० १। ३); जो कि इस शास्त्रका मुख्य प्रतिपाद्य है जिसे कैवल्य-अवस्था भी कहते हैं—*

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः=विराम-प्रत्ययका अभ्यास जिसकी पूर्व-अवस्था है और; **संस्कारशेषः**=जिसमें चित्तका स्वरूप 'संस्कार' मात्र ही शेष रहता है, वह योग; **अन्यः**=अन्य है।

व्याख्या—साधकको जब पर-वैराग्यकी प्राप्ति हो जाती है, उस समय स्वभावसे ही चित्त संसारके पदार्थोंकी ओर नहीं जाता। वह उनसे अपने-आप उपरत हो जाता है। उस उपरत-अवस्थाकी प्रतीतिका नाम ही यहाँ विराम-प्रत्यय है। इस उपरतिकी प्रतीतिका अभ्यास-क्रम भी जब बंद हो जाता है, उस समय चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा अभाव हो जाता है (योग० १। ५१); केवलमात्र अन्तिम उपरत-अवस्थाके संस्कारोंसे युक्त चित्त रहता है (योग० ३। ९-१०)। फिर निरोध-संस्कारोंके क्रमकी समाप्ति होनेसे वह चित्त भी अपने कारणमें लीन हो जाता है (योग० ४। ३२—३४) अतः प्रकृतिके संयोगका अभाव हो जानेपर द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। इसीको असम्प्रज्ञातयोग, निर्बीजसमाधि (योग० १। ५१) और कैवल्य-अवस्था (योग० २। २५; ३। ५५; ४। ३४) आदि नामोंसे कहा गया है॥ १८॥

सम्बन्ध—*यहाँतक योग और उसके साधनोंका संक्षेपमें वर्णन किया गया, अब किस प्रकारके साधकका उपर्युक्त योग शीघ्र-से-शीघ्र सिद्ध होता है, यह समझानेके लिये प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

****

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

विदेहप्रकृतिलयानाम्=विदेह और प्रकृतिलय योगियोंका (उपर्युक्त योग); **भवप्रत्ययः**=भवप्रत्यय कहलाता है।

व्याख्या—जो पूर्वजन्ममें योगका साधन करते-करते विदेह-अवस्थातक पहुँच चुके थे; अर्थात् शरीरके बन्धनसे छूटकर शरीरके बाहर स्थिर होनेका जिनका अभ्यास दृढ़ हो चुका था, जो 'महाविदेह' स्थितिको प्राप्त कर चुके थे (योग० ३।४३), एवं जो साधन करते-करते 'प्रकृतिलय' (योग० १।४५; ३।४८) तककी स्थिति प्राप्त कर चुके थे, किंतु कैवल्य-पदकी प्राप्ति होनेके पहले जिनकी मृत्यु हो गयी, उन दोनों प्रकारके योगियोंका जब पुनर्जन्म होता है, जब वे योगभ्रष्ट साधक पुनः योगिकुलमें जन्म ग्रहण करते हैं; तब उनको पूर्वजन्मके योगाभ्यास-विषयक संस्कारोंके प्रभावसे अपनी स्थितिका तत्काल ज्ञान हो जाता है (गीता ६।४२-४३) और वे साधनकी परम्पराके बिना ही निर्बीजसमाधि-अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं। उनकी निर्बीजसमाधि उपायजन्य नहीं है, अतः उसका नाम 'भवप्रत्यय' है अर्थात् वह ऐसी समाधि है कि जिसके सिद्ध होनेमें पुनः मनुष्यजन्म प्राप्त होना ही कारण है, साधनसमुदाय नहीं ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—*दूसरे साधकोंका योग कैसे सिद्ध होता है? सो बतलाते हैं*—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

इतरेषाम्=दूसरे साधकोंका (निरोधरूप योग); **श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि-प्रज्ञापूर्वकः**=श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक (क्रमसे) सिद्ध होता है।

व्याख्या—किसी भी साधनमें प्रवृत्त होनेका और अविचल भावसे उसमें लगे रहनेका मूल कारण श्रद्धा (भक्तिपूर्वक विश्वास) ही है। श्रद्धाकी कमीके कारण ही साधकके साधनकी उन्नतिमें विलम्ब होता है, अन्यथा कल्याणके साधनमें विलम्बका कोई कारण नहीं है। साधनके लिये किसी अप्राप्त योग्यता और परिस्थितिकी आवश्यकता नहीं है। इसीलिये सूत्रकारने

श्रद्धाको पहला स्थान दिया है। श्रद्धाके साथ साधकमें वीर्य अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरका सामर्थ्य भी परम आवश्यक है; क्योंकि इसीसे साधकका उत्साह बढ़ता है। श्रद्धा और वीर्य—इन दोनोंका संयोग मिलनेपर साधककी स्मरणशक्ति बलवती हो जाती है तथा उसमें योगसाधनके संस्कारोंका ही बारम्बार प्राकट्य होता रहता है; अतः उसका मन विषयोंसे विरक्त होकर समाहित हो जाता है। इसीको समाधि कहते हैं (योग० १।४६; ३।३)। इससे अन्तःकरण स्वच्छ हो जानेपर साधककी बुद्धि 'ऋतम्भरा'—सत्यको धारण करनेवाली हो जाती है (योग० १।४८)। इस बुद्धिका ही नाम समाधिप्रज्ञा है। अतएव पर-वैराग्यकी प्राप्तिपूर्वक साधकका निर्बीजसमाधिरूप योग सिद्ध हो जाता है। गीतामें भी कहा है—

'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥'

(४।३९)

जितेन्द्रिय साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है॥ २०॥

सम्बन्ध—*अब अभ्यास-वैराग्यकी अधिकताके कारण योगकी सिद्धि शीघ्र और अति शीघ्र होनेकी बात कहते हैं—*

तीव्रसंवेगानामासन्नः॥ २१॥

तीव्रसंवेगानाम्=जिनके साधनकी गति तीव्र हैं, उनकी (निर्बीज-समाधि); **आसन्नः**=शीघ्र (सिद्ध) होती है।

व्याख्या—जिन पुरुषोंका साधन (अभ्यास और वैराग्य) तेजीसे चलता है, जो सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंको ठुकराकर अपने साधनमें तत्परतासे लगे रहते हैं, उनका योग शीघ्र सिद्ध होता है॥ २१॥

सम्बन्ध—*किंतु—*

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः॥ २२॥

****

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्=साधनकी मात्रा हलकी, मध्यम और उच्च होनेके कारण; **ततः**=तीव्र संवेगवालोंमें; **अपि**=भी; **विशेषः**=(कालका) भेद हो जाता है।

व्याख्या—किसका साधन किस दर्जेका है; इसपर भी योग-सिद्धिकी शीघ्रताका विभाग निर्भर करता है; क्योंकि क्रियात्मक अभ्यास और वैराग्य तीव्र होनेपर भी विवेक और भावकी न्यूनाधिकताके कारण समाधि सिद्ध होनेके कालमें भेद होना स्वाभाविक है। जिस साधकमें श्रद्धा, विवेकशक्ति और भाव कुछ उन्नत हैं, उसका साधन मध्यमात्रावाला है और जिस साधकमें श्रद्धा, विवेक और भाव अत्यन्त उन्नत हैं, उसका साधन अधिमात्रावाला है। साधनमें क्रियाकी अपेक्षा भावका अधिक महत्त्व है। अभ्यास और वैराग्यका जो क्रियात्मक बाह्य स्वरूप है, वह तो ऊपरवाले सूत्रमें 'वेग'के नामसे कहा गया है; और उनका जो भावात्मक आभ्यन्तर स्वरूप है, वह उनकी मात्रा यानी दर्जा है। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि एक ही कामके लिये समानरूपसे परिश्रम किया जानेपर भी जो उसकी सिद्धिमें अधिक विश्वास रखता है, जिस मनुष्यको उस कामके करनेकी युक्तिका अधिक ज्ञान है एवं जो उसे प्रेम और उत्साहपूर्वक बिना उकताये करता रहता है; वह दूसरोंकी अपेक्षा उसे शीघ्र पूरा कर लेता है। वही बात समाधिकी सिद्धिमें भी समझ लेनी चाहिये।

समाधिकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवालोंमें जिसका साधन श्रद्धा, विवेकशक्ति और भाव आदिकी अधिकताके कारण जितने ऊँचे दर्जेका है और जिसकी चालका क्रम जितना तेज है, उसीके अनुसार वह शीघ्र या अतिशीघ्र समाधिकी प्राप्ति कर सकेगा। यही बात समझानेके लिये सूत्रकारने उपर्युक्त दो सूत्रोंकी रचना की है—ऐसा मालूम होता है। अतः साधकको चाहिये कि अपने साधनको सर्वथा निर्दोष बतानेकी चेष्टा रखे, उसमें किसी प्रकारकी शिथिलता न आने दे॥ २२॥

सम्बन्ध—*अब पूर्वोक्त अभ्यास और वैराग्यकी अपेक्षा निर्बीज-समाधिका सुगम उपाय बतलाया जाता है—*

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

वा=इसके सिवा; **ईश्वरप्रणिधानात्**=ईश्वरप्रणिधानसे भी (निर्बीज-समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है)।

व्याख्या—ईश्वरकी भक्ति यानी शरणागतिका नाम 'ईश्वरप्रणिधान' है (देखिये योग० २।१ की व्याख्या); इससे भी निर्बीज-समाधि शीघ्र सिद्ध हो सकती है (योग० २।४५), क्योंकि ईश्वर सर्वसमर्थ हैं, वे अपने शरणापन्न भक्तपर प्रसन्न होकर उसके भावानुसार सब कुछ प्रदान कर सकते हैं (गीता ४।११ *) ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—*अब उक्त ईश्वरके लक्षण बतलाते हैं*—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैः=क्लेश, कर्म, विपाक और आशय—इन चारोंसे; **अपरामृष्टः**=जो सम्बन्धित नहीं है (तथा); **पुरुषविशेषः**=जो समस्त पुरुषोंसे उत्तम है, वह; **ईश्वरः**=ईश्वर है।

व्याख्या—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच 'क्लेश' हैं; इनका विस्तृत वर्णन दूसरे पादके तीसरे सूत्रसे नवेंतक है। 'कर्म' चार प्रकारके हैं—पुण्य, पाप, पुण्य और पापमिश्रित तथा पुण्य-पापसे रहित (योग० ४।७)। कर्मके फलका नाम 'विपाक' है (योग० २।१३) और कर्मसंस्कारोंके समुदायका नाम 'आशय' है (योग० २।१२)। समस्त जीवोंका इन चारोंसे अनादि सम्बन्ध है। यद्यपि मुक्त जीवोंका पीछे सम्बन्ध नहीं रहता तो भी पहले सम्बन्ध था ही; किंतु ईश्वरका तो कभी भी इनसे न सम्बन्ध था, न है और न होनेवाला है; इस कारण उन मुक्त पुरुषोंसे भी ईश्वर विशेष है, यह बात प्रकट करनेके लिये ही सूत्रकारने 'पुरुषविशेषः' पदका प्रयोग किया है ॥ २४ ॥

---

* ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
'जो मेरेको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।'

****

सम्बन्ध—*ईश्वरकी विशेषताका पुनः प्रतिपादन करते हैं—*

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

तत्र=उस (ईश्वर) में; **सर्वज्ञबीजम्**=सर्वज्ञताका बीज (कारण) अर्थात् ज्ञान; **निरतिशयम्**=निरतिशय है।

व्याख्या—जिससे बढ़कर कोई दूसरी वस्तु हो, वह सातिशय है और जिससे बड़ा कोई न हो वह निरतिशय है। ईश्वर ज्ञानकी अवधि है, उसका ज्ञान सबसे बढ़कर है; उसके ज्ञानसे बढ़कर किसीका भी ज्ञान नहीं है; इसलिये उसे निरतिशय कहा गया है। जिस प्रकार ईश्वरमें ज्ञानकी पराकाष्ठा है, उसी प्रकार धर्म, वैराग्य, यश और ऐश्वर्य आदिकी पराकाष्ठाका आधार भी उसीको समझना चाहिये ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—*और भी उसकी विशेषताका प्रतिपादन करते हैं—*

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

(वह ईश्वर सबके) **पूर्वेषाम्**=पूर्वजोंका; **अपि**=भी; **गुरुः**=गुरु है; **कालेन अनवच्छेदात्**=क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है।

व्याख्या—सर्गके आदिमें उत्पन्न होनेके कारण सबका गुरु ब्रह्माको माना जाता है, परंतु उसका कालसे अवच्छेद है (गीता ८। १७)। ईश्वर स्वयं अनादि और अन्य सबका आदि है (गीता १०। २-३); वह कालकी सीमासे सर्वथा अतीत है, वहाँतक कालकी पहुँच नहीं है; क्योंकि वह कालका भी महाकाल है। इसलिये वह सम्पूर्ण पूर्वजोंका भी गुरु यानी सबसे बड़ा, सबसे पुराना और सबको शिक्षा देनेवाला है (श्वेता० ३। ४; ६। १८) ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—*ईश्वरकी शरणागतिका प्रकार बतलानेके लिये उसके नामका वर्णन करते हैं—*

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

तस्य=उस ईश्वरका; **वाचकः**=वाचक (नाम); **प्रणवः**=प्रणव (ॐ कार) है।

व्याख्या—नाम और नामीका सम्बन्ध अनादि और बड़ा ही घनिष्ठ है। इसी कारण शास्त्रोंमें नाम-जपकी बड़ी महिमा है (तुलसी॰ बाल॰ दोहा १८ से २७), गीतामें भी जपयज्ञको सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ बतलाया है (१०।२५), 'ॐ' उस परमेश्वरका वेदोक्त नाम होनेसे मुख्य है (गीता १७।२३; कठ॰ १।२।१५—१७); इस कारण यहाँ उसीका वर्णन किया गया है। इसी वर्णनसे श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि जितने भी ईश्वरके नाम हैं, उनके जपका भी माहात्म्य समझ लेना चाहिये॥ २७॥

सम्बन्ध—*ईश्वरका नाम बतलाकर अब उसके प्रयोगकी विधि बतलाते हैं—*

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ २८॥

तज्जपः=उस ॐकारका जप (और); **तदर्थभावनम्**=उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन (करना चाहिये)।

व्याख्या—साधकको ईश्वरके नामका जप और उसके स्वरूपका स्मरण-चिन्तन करना चाहिये।* इसीको पूर्वोक्त ईश्वरप्रणिधान अर्थात् ईश्वरकी भक्ति या शरणागति कहते हैं। ईश्वरकी भक्तिके और भी बहुत-से प्रकार हैं, परंतु जप और ध्यान सब साधनोंमें मुख्य होनेके कारण यहाँ सूत्रकारने केवल नाम और नामीके स्मरणरूप एक ही प्रकारका वर्णन किया है। गीतामें भी इसी तरह वर्णन आया है (८।१३)। इसे उपलक्षण मानकर भगवद्भक्तिके सभी साधनोंको ईश्वरकी प्रसन्नताके नाते निर्बीज समाधिकी सिद्धिमें हेतु समझना चाहिये अर्थात् ईश्वरकी भक्तिके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका ईश्वरप्रणिधानमें अन्तर्भाव समझना चाहिये॥ २८॥

सम्बन्ध—*अब ईश्वरके नाम-जप और स्वरूपचिन्तनके फलका वर्णन करते हैं—*

---

* प्रश्नोपनिषद्के पाँचवें प्रश्नोत्तरमें और माण्डूक्योपनिषद्में ओंकारकी उपासनाका विषय विस्तारसे समझाया गया है।

****

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

ततः=उक्त साधनसे; **अन्तरायाभावः**=विघ्नोंका अभाव; **च**=और; **प्रत्यक्चेतनाधिगमः**=अन्तरात्माके स्वरूपका ज्ञान; **अपि**=भी (हो जाता है)।

व्याख्या—अगले दो सूत्रोंमें जिन विघ्नोंका वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है, ईश्वरके भजन-स्मरणसे उनका अपने-आप नाश हो जाता है और अन्तरात्माके (द्रष्टाके) स्वरूपका ज्ञान होकर कैवल्य-अवस्था भी उपलब्ध हो जाती है; अतः यह निर्बीज-समाधिकी प्राप्तिका बहुत ही सुगम उपाय है ॥ २९ ॥

सम्बन्ध—*पूर्वसूत्रमें जिन अन्तरायोंका अभाव होनेकी बात कही गयी है, उनके नाम बतलाये जाते हैं—*

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वान-वस्थितत्वानि=व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—ये नौ; (जो कि) **चित्तविक्षेपाः**=चित्तके विक्षेप हैं; **ते**=वे ही; **अन्तरायाः**=अन्तराय (विघ्न) हैं।

व्याख्या—योगसाधनमें लगे हुए साधकके चित्तमें विक्षेप उत्पन्न करके उसको साधनसे विचलित करनेवाले ये नौ योगमार्गके विघ्न माने गये हैं।

(१) शरीर, इन्द्रियसमुदाय और चित्तमें किसी प्रकारका रोग उत्पन्न हो जाना 'व्याधि' है।

(२) अकर्मण्यता अर्थात् साधनोंमें प्रवृत्ति न होनेका स्वभाव 'स्त्यान' है।

(३) अपनी शक्तिमें या योगके फलमें संदेह हो जानेका नाम 'संशय' है।

(४) योगसाधनोंके अनुष्ठानकी अवहेलना (बे-परवाही) करते रहना 'प्रमाद' है।

(५) तमोगुणकी अधिकतासे चित्त और शरीरमें भारीपन हो जाना

और उसके कारण साधनमें प्रवृत्तिका न होना 'आलस्य' है।

(६) विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेसे उनमें आसक्ति हो जानेके कारण जो चित्तमें वैराग्यका अभाव हो जाता है, उसे 'अविरति' कहते हैं।

(७) योगके साधनोंको किसी कारणसे विपरीत समझना अर्थात् यह साधन ठीक नहीं, ऐसा मिथ्या ज्ञान हो जाना 'भ्रान्तिदर्शन' है।

(८) साधन करनेपर भी योगकी भूमिकाओंका अर्थात् साधनकी स्थितिका प्राप्त न होना—यह 'अलब्धभूमिकत्व' है; इससे साधकका उत्साह कम हो जाता है।

(९) योगसाधनसे किसी भूमिमें चित्तकी स्थिति होनेपर भी उसका न ठहरना 'अनवस्थितत्व' है।

इन नौ प्रकारके चित्तविक्षेपोंको ही अन्तराय, विघ्न और योगके प्रतिपक्षी आदि नामोंसे कहा जाता है॥ ३०॥

सम्बन्ध—इनके साथ-साथ होनेवाले दूसरे विघ्नोंका वर्णन करते हैं—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः=दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास—ये पाँच विघ्न, **विक्षेपसहभुवः**=विक्षेपोंके साथ-साथ होनेवाले हैं।

व्याख्या—उपर्युक्त चित्तविक्षेपोंके साथ-साथ होनेवाले दूसरे पाँच विघ्न इस प्रकार हैं—

(१) दुःख—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इस तरह दुःखके प्रधानतया तीन भेद माने गये हैं। काम-क्रोधादिके कारण व्याधि आदिके कारण या इन्द्रियोंमें किसी प्रकारकी विकलता होनेके कारण जो मन, इन्द्रिय या शरीरमें ताप या पीड़ा होती है, उसको 'आध्यात्मिक दुःख' कहते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, सिंह, व्याघ्र, मच्छर और अन्यान्य जीवोंके कारण होनेवाली पीड़ाका नाम 'आधिभौतिक दुःख' है तथा सर्दी, गर्मी, वर्षा, भूकम्प

****

आदि दैवी घटनासे होनेवाली पीड़ाका नाम 'आधिदैविक दुःख' है।

(२) **दौर्मनस्य**—इच्छाकी पूर्ति न होनेपर जो मनमें क्षोभ होता है, उसे 'दौर्मनस्य' कहते हैं।

(३) **अङ्गमेजयत्व**—शरीरके अङ्गोंमें कम्प होना, 'अङ्ग-मेजयत्व' है।

(४) **श्वास**—बिना इच्छाके बाहरकी वायुका भीतर प्रवेश कर जाना अर्थात् बाहरी कुम्भकमें विघ्न हो जाना 'श्वास' है।

(५) **प्रश्वास**—बिना इच्छाके ही भीतरकी वायुका बाहर निकल जाना अर्थात् भीतरी कुम्भकमें विघ्न हो जाना 'प्रश्वास' है।

ये पाँचों विक्षिप्त चित्तमें ही होते हैं, समाहित चित्तमें नहीं; इसलिये इनको 'विक्षेपसहभू' कहते हैं॥ ३१॥

सम्बन्ध—*उक्त विघ्नोंको दूर करनेका दूसरा उपाय बतलाते हैं—*

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

तत्प्रतिषेधार्थम्=उनको दूर करनेके लिये; **एकतत्त्वाभ्यासः**=एकतत्त्वका अभ्यास (करना चाहिये)।

व्याख्या—उपर्युक्त दोनों प्रकारके विघ्नोंका नाश ईश्वर-प्रणिधानसे तो होता ही है, उसके सिवा यह दूसरा उपाय बतलाया गया है। भाव यह कि किसी एक वस्तुमें चित्तको स्थित करनेका बार-बार प्रयत्न करनेसे भी एकाग्रता उत्पन्न होकर विघ्नोंका नाश हो जाता है; अतः यह साधन भी किया जा सकता है॥ ३२॥

सम्बन्ध—*चित्तके अन्तरालमें राग-द्वेषादि मल रहनेके कारण मलिन चित्त स्थिर नहीं होता, अतः चित्तको निर्मल बनानेका सुगम उपाय बतलाते हैं—*

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम्=सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और

****

पापात्मा—ये चारों जिनके क्रमसे विषय हैं, ऐसी; **मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्**=मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षाकी; **भावनातः**=भावनासे; **चित्तप्रसादनम्**=चित्त स्वच्छ हो जाता है।

व्याख्या—सुखी मनुष्योंमें मित्रताकी भावना करनेसे, दुःखी मनुष्योंमें दयाकी भावना करनेसे, पुण्यात्मा पुरुषोंमें प्रसन्नताकी भावना करनेसे और पापियोंमें उपेक्षाकी भावना करनेसे चित्तके राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या और क्रोध आदि मलोंका नाश होकर चित्त शुद्ध—निर्मल हो जाता है। अतः साधकको इसका अभ्यास करना चाहिये॥ ३३॥

सम्बन्ध—*चित्तशुद्धिका दूसरा उपाय बतलाते हैं—*

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ ३४॥

वा=अथवा; **प्राणस्य**=प्राणवायुको; **प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम्**=बारम्बार बाहर निकालने और रोकनेके अभ्याससे भी (चित्त निर्मल होता है)।

व्याख्या—बारम्बार प्राणवायुको शरीरसे बाहर निकालनेका तथा यथाशक्ति बाहर रोके रखनेका अभ्यास करनेसे मनमें निर्मलता आती है, इससे शरीरकी नाड़ियोंका भी मल नष्ट होता है॥ ३४॥

सम्बन्ध—*प्रसंगवश चित्तकी निर्मलताके उपाय बतलाकर, अब मनको स्थिर करनेवाला अन्य साधन बतलाते हैं—*

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी॥ ३५॥

विषयवती=विषयवाली; **प्रवृत्तिः**=प्रवृत्ति; **उत्पन्ना**=उत्पन्न होकर वह; **वा**=भी; **मनसः**=मनकी; **स्थितिनिबन्धनी**=स्थितिको बाँधनेवाली हो जाती है।

व्याख्या—अभ्यास करते-करते साधकको दिव्य विषयोंका साक्षात् हो जाता है, उन दिव्य विषयोंका अनुभव करनेवाली वृत्तिका नाम विषयवती प्रवृत्ति है (योग० ३।३६)। ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न होनेसे साधकका योगमार्गमें विश्वास और उत्साह बढ़ जाता है, इस कारण यह आत्मचिन्तनके अभ्यासमें

भी मनको स्थिर करनेमें हेतु बन जाती है ॥ ३५ ॥

सम्बन्ध—*इसी प्रकारका और भी उपाय बतलाते हैं—*

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

वा=इसके सिवा [यदि]; **विशोका**=शोकरहित; **ज्योतिष्मती**=ज्योतिष्मती प्रवृत्ति [उत्पन्न हो जाय तो वह] भी मनकी स्थिति करनेवाली होती है।

व्याख्या—अभ्यास करते-करते साधकको यदि शोकरहित प्रकाशमय प्रवृत्तिका अनुभव हो जाय तो वह भी मनको स्थिर करनेवाली होती है ॥ ३६ ॥

सम्बन्ध—*अब चित्तकी स्थिरताका अन्य उपाय बतलाते हैं—*

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

वीतरागविषयम्=वीतरागको विषय करनेवाला; **चित्तम्**=चित्त; **वा**=भी [स्थिर हो जाता है]।

व्याख्या—जिस पुरुषके राग-द्वेष सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, ऐसे विरक्त पुरुषको ध्येय बनाकर अभ्यास करनेवाला अर्थात् उसके विरक्त भावका मनन करनेवाला चित्त भी स्थिर हो जाता है ॥ ३७ ॥

सम्बन्ध—*और भी अन्य उपाय बतलाते हैं—*

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम्=स्वप्न और निद्राके ज्ञानका अवलम्बन करनेवाला चित्त; **वा**=भी [स्थिर हो सकता है]।

व्याख्या—स्वप्नमें कोई अलौकिक अनुभव हुआ हो, जैसे अपने इष्टदेवका दर्शन आदि, तो उसको स्मरण करके वैसा ही चिन्तन करनेसे मन स्थिर हो जाता है तथा गाढ़ निद्रामें केवल चित्तकी वृत्तियोंके अभावका ही ज्ञान रहता है, किसी भी पदार्थकी प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार समस्त वृत्तियोंका बाध करके वृत्तियोंके अभावके ज्ञानका अवलम्बन करनेसे अर्थात्

उसीको लक्ष्य बनाकर अभ्यास करनेसे भी अनायास ही चित्त स्थिर हो सकता है। जिस कालमें तमोगुणका आविर्भाव होता है; उस समय 'यह अभ्यास नहीं करना चाहिये।' जिस समय चित्त और इन्द्रियोंमें सत्त्वगुण बढ़ा हुआ हो, उस समय यह साधन अधिक लाभप्रद हो सकता है॥ ३८॥

सम्बन्ध—*मनुष्योंकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है; अतः अब सर्वसाधारणके उपयोगी साधनका वर्णन करते हुए इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—*

यथाभिमतध्यानाद्वा॥ ३९॥

यथाभिमतध्यानात्=जिसको जो अभिमत हो, उसके ध्यानसे; **वा**=भी [मन स्थिर हो जाता है]।

व्याख्या—उपर्युक्त साधनोंमेंसे कोई साधन किसी साधकके अनुकूल नहीं पड़ता हो तो उसे अपनी रुचिके अनुसार अपने इष्टका ध्यान करना चाहिये। अपनी रुचिके अनुसार अपने इष्टका ध्यान करनेसे मन स्थिर हो जाता है॥ ३९॥

सम्बन्ध—*चित्तकी स्थिरताके उपाय बतलाकर अब यह बतलाते हैं कि चित्तमें जब स्थिर होनेकी योग्यता परिपक्व हो जाती है, तब उसकी कैसी स्थिति होती है—*

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः॥ ४०॥

(उस समय) **अस्य**=इसका; **परमाणुपरममहत्त्वान्तः**=परमाणुसे लेकर परम महत्त्वतक; **वशीकारः**=वशीकार (हो जाता है)।

व्याख्या—अभ्यास करते-करते जब साधकका चित्त भलीभाँति स्थितिकी योग्यता प्राप्त कर लेता है; उस समय साधक अपने चित्तको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थोंसे लेकर बड़े-से-बड़े महान् पदार्थतक चाहे जहाँ, चाहे जब तत्काल स्थिर कर सकता है। उसका अपने चित्तपर पूर्ण अधिकार हो जाता है। चित्तमें स्थिर होनेकी योग्यता परिपक्व हो जानेकी पहचान भी यही है (गीता ६। १९)॥ ४०॥

****

सम्बन्ध—पहले बतलाये हुए उपायोंसे जब साधकका अपने चित्तपर अधिकार हो जाता है और चित्त अत्यन्त निर्मल होकर उसमें समाधिकी योग्यता आ जाती है, इसके बाद किस प्रकार क्रमसे सम्प्रज्ञात निर्बीज-समाधि सिद्ध होती है, उसका वर्णन आरम्भ करते हैं—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

क्षीणवृत्तेः=जिसकी समस्त बाह्य वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं, ऐसे; **मणेः इव अभिजातस्य**=स्फटिकमणिकी भाँति निर्मल चित्तका; **ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु**=जो ग्रहीता (पुरुष), ग्रहण (अन्तःकरण और इन्द्रियाँ) तथा ग्राह्य-(पञ्चभूत और विषयों-)में; **तत्स्थतदञ्जनता**=स्थित हो जाना और तदाकार हो जाना है, यही; **समापत्तिः**=सम्प्रज्ञात समाधि है।

व्याख्या—पूर्वोक्त अभ्यास करते-करते जब साधकका चित्त स्वच्छ स्फटिकमणिकी भाँति अति निर्मल हो जाता है, जब उसकी ध्येयसे अतिरिक्त बाह्य वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, उस समय साधक इन्द्रियोंके स्थूल या सूक्ष्म विषयोंको (योग० ३।४४), या अन्तःकरण और इन्द्रियोंको (योग० ३।४७) अथवा बुद्धिस्थ पुरुषको (योग० ३।४९)—जिस किसी भी ध्येयको लक्ष्य बनाकर उसमें अपने चित्तको लगाता है तो वह चित्त उस ध्येय वस्तुमें स्थित होकर तदाकार हो जाता है। इसीको सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं, क्योंकि इस समाधिमें साधकको ध्येय वस्तुके स्वरूपका भली प्रकार ज्ञान हो जाता है, उसके विषयमें किसी प्रकारका संशय या भ्रम नहीं रहता है।*

सूत्रकारने अगले सूत्रोंमें न तो आनन्दानुगत समाधिकी चर्चा की है, न ग्रहण या इन्द्रियानुगतकी और न अस्मिता या पुरुषानुगतकी, इस कारण यद्यपि यह विषय स्पष्ट नहीं होता, परंतु सूक्ष्म विषयकी हद अलिङ्गपर्यन्त बतला दी,

---

* इसी समाधिका वर्णन पहले सतरहवें सूत्रमें भी आया है, वहाँ वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—इन चारोंके सम्बन्धसे होनेवाले योगको सम्प्रज्ञात बतलाया है।

इससे मन, इन्द्रियाँ और अस्मिताका उसीमें अन्तर्भाव माना जा सकता है। सम्भव है, इसीसे उन्होंने इन्द्रियानुगत और अस्मितानुगत समाधिके भेदोंका अलग वर्णन न किया हो, क्योंकि तीसरे पादके ४४ वें, ४७ वें और ४९ वें सूत्रमें जहाँ ग्राह्यविषयक, ग्रहणविषयक और ग्रहीतृविषयक संयमका फल बताया है, वहाँ ग्राह्यके सूक्ष्मरूपमें तन्मात्राओंको और ग्रहणके सूक्ष्मरूपमें अस्मिताको ले लिया है। आनन्द भी मनका ग्राह्य विषय होनेके कारण इसको भी सूक्ष्म ग्राह्यविषयक समाधिके ही अन्तर्गत माना जा सकता है।*

अतः यहाँ यह मानना उचित मालूम होता है कि आकाशादि पञ्च महाभूत और उनका कार्य तो स्थूल ग्राह्य विषय है तथा तन्मात्रा और उनका सूक्ष्म कार्य सूक्ष्म ग्राह्य विषय है। इन्द्रियाँ और अन्तःकरण ग्रहणविषयक समाधिके अन्तर्गत हैं, वे ग्राह्यविषयक समाधिमें तो नहीं आते; परन्तु सूक्ष्म विषयकी हद अलिङ्गपर्यन्त बतला देनेसे ग्रहणविषयक समाधिका भी विचारानुगत समाधिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार आनन्द नाम आह्लादका है। यह प्रकृति और पुरुषके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला और मनके द्वारा ग्राह्य है। अतः वह सूक्ष्म विषयके अन्तर्गत आ जानेके कारण उसका ग्राह्य-समाधिमें अन्तर्भाव है। एवं यहाँ जो ग्रहीतृविषयक समाधि बतायी गयी है, वह भी तीसरे पादके पैंतीसवें सूत्रके अनुसार प्रकृति-पुरुषके संयोग-कालमें ही पुरुषके स्वरूपमें की जाती है। अतः वह अस्मितानुगत समाधि है, यह समझना चाहिये; क्योंकि उसका फल उसी सूत्रमें पुरुषका ज्ञान बतलाया गया है॥ ४१॥

---

* कुछ टीकाकारोंका कहना है कि वितर्क और विचारके स्थानपर तो यहाँ 'ग्राह्य' शब्द है, आनन्दकी जगह 'ग्रहण' शब्द है और अस्मिताकी जगह 'ग्रहीता' शब्द है। दोनों स्थलोंके वर्णनकी एकता करनेके लिये उन लोगोंने उस सूत्रकी टीकामें आनन्दका अर्थ इन्द्रियाँ किया है और इस सूत्रमें 'ग्रहीता' का अर्थ अस्मिता किया है, किन्तु व्यासभाष्यमें ऐसा नहीं किया गया है। उन्होंने वहाँ आनन्दका अर्थ आह्लाद और यहाँ 'ग्रहीता' का अर्थ साधारण पुरुष और मुक्त पुरुष—इस प्रकार किया है।

****

सम्बन्ध—*सामान्यरूपसे सम्प्रज्ञातसमाधिका स्वरूप बतला दिया, अब इसके भेदोंका वर्णन करते हैं—*

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

तत्र=उनमें; **शब्दार्थज्ञानविकल्पैः**=शब्द, अर्थ, ज्ञान—इन तीनोंके विकल्पोंसे; **संकीर्णा**=संकीर्ण—मिली हुई; **समापत्तिः**=समाधि; **सवितर्का**=सवितर्क है।

व्याख्या—ग्राह्य यानी मन और इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण करनेमें आनेवाले पदार्थ दो प्रकारके होते हैं—(१) स्थूल, (२) सूक्ष्म। इनमेंसे किसी एक स्थूल पदार्थको लक्ष्य बनाकर उसके स्वरूपको जाननेके लिये जब योगी अपने चित्तको उसमें लगाता है, तब पहले-पहल होनेवाले अनुभवमें उस वस्तुके नाम, रूप और ज्ञानके विकल्पोंका मिश्रण रहता है। अर्थात् उसके स्वरूपके साथ-साथ उसके नाम और प्रतीतिकी भी चित्तमें स्फुरणा रहती है। अतः इस समाधिको सवितर्क समाधि कहते हैं। इसीका दूसरा नाम सविकल्प योग भी है॥ ४२ ॥

सम्बन्ध—*इसके बाद*—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

स्मृतिपरिशुद्धौ=(शब्द और प्रतीतिकी) स्मृतिके भलीभाँति लुप्त हो जानेपर; **स्वरूपशून्या**=अपने रूपसे शून्य हुईके; **इव**=सदृश; **अर्थमात्रनिर्भासा**=केवल ध्येयमात्रके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली (चित्तकी स्थिति ही); **निर्वितर्का**=निर्वितर्क समाधि है।

व्याख्या—पहले बतलायी हुई स्थितिके बाद जब साधकके चित्तमें ध्येय वस्तुके नामकी स्मृति लुप्त हो जाती है और उसको विषय करनेवाली चित्तवृत्तिका भी स्मरण नहीं रहता, तब अपने (चित्तके) स्वरूपका भी भान न रहनेके कारण

उसके स्वरूपके अभावकी-सी स्थिति हो जाती है, उस समय सब प्रकारके विकल्पोंका अभाव हो जानेके कारण केवल ध्येय पदार्थके साथ तदाकार हुआ चित्त ध्येयको प्रकाशित करता है, उस अवस्थाका नाम 'निर्वितर्क' समाधि है। इसमें शब्द और प्रतीतिका कोई विकल्प नहीं रहता, अतः इसे 'निर्विकल्प' समाधि भी कहते हैं॥ ४३॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार स्थूल-ध्येय पदार्थोंमें होनेवाली सम्प्रज्ञात समाधिका भेद बतलाकर अब सूक्ष्म ध्येयमें होनेवाली सम्प्रज्ञात समाधिके भेद बतलाते हैं—*

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

एतया एव=इसीसे (पूर्वोक्त सवितर्क और निर्वितर्कके वर्णनसे ही); **सूक्ष्मविषया**=सूक्ष्म पदार्थोंमें की जानेवाली; **सविचारा**=सविचार (और); **निर्विचारा**=निर्विचार समाधिका; **च**=भी; **व्याख्याता**=वर्णन किया गया।

व्याख्या—जिस प्रकार स्थूल-ध्येय पदार्थोंमें की जानेवाली समाधिके दो भेद हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म-ध्येय पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाली समाधिके भी दो भेद समझ लेने चाहिये अर्थात् जब किसी सूक्ष्म-ध्येय पदार्थके स्वरूपका यथार्थ स्वरूप जाननेके लिये उसमें चित्तको स्थिर किया जाता है, तब पहले उसके नाम, रूप और ज्ञानके विकल्पोंसे मिला हुआ अनुभव होता है, वह स्थिति सविचार समाधि है; और उसके बाद जब नामका और ज्ञानका अर्थात् चित्तके निज स्वरूपका भी विस्मरण होकर केवल ध्येय पदार्थका ही अनुभव होता है, वह स्थिति निर्विचार समाधि है॥ ४४॥

सम्बन्ध—*अब सूक्ष्म पदार्थोंमें किन-किनकी गणना है, यह स्पष्ट करते हैं—*

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

च=तथा; **सूक्ष्मविषयत्वम्**=सूक्ष्मविषयता; **अलिङ्गपर्यवसानम्**=प्रकृतिपर्यन्त है।

व्याख्या—पृथ्वीका सूक्ष्म विषय गन्धतन्मात्रा, जलका रसतन्मात्रा, तेजका रूपतन्मात्रा, वायुका स्पर्शतन्मात्रा और आकाशका शब्दतन्मात्रा है एवं उन सबका और मनसहित इन्द्रियोंका सूक्ष्म विषय अहंकार, अहंकारका महत्तत्त्व और महत्तत्त्वका सूक्ष्म विषय यानी कारण प्रकृति है। उससे आगे कोई सूक्ष्म पदार्थ नहीं है; वही सूक्ष्मताकी अवधि है। अतः प्रकृतिपर्यन्त किसी भी सूक्ष्म पदार्थको लक्ष्य बनाकर उसमें की हुई समाधिको सविचार और निर्विचार समाधिके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये। यद्यपि पुरुष प्रकृतिसे भी सूक्ष्म है, पर वह दृश्य पदार्थोंमें नहीं है, अतः तद्विषयक समाधि इसमें नहीं आनी चाहिये; तथापि ग्रहीतृविषयक समाधि बुद्धिमें प्रतिबिम्बित पुरुषमें की जाती है (योग० ३। ३५)। अतः उसको निर्विचार समाधिके अन्तर्गत मान लेनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती। क्योंकि कठोपनिषद् (१। ३। १०) में जीवात्मासे प्रकृतिको 'पर' कहा गया है।

इस प्रकार यहाँ सूक्ष्म विषयकी सीमा प्रकृतिपर्यन्त बतला देनेके कारण मन, इन्द्रियाँ तथा आनन्द और अस्मिताका उसमें अन्तर्भाव प्रतीत होता है; फिर सतरहवें सूत्रमें कहे हुए आनन्द और अस्मिताको और इकतालीसवें सूत्रमें ग्रहण नामसे कहे हुए मन और इन्द्रियोंको और ग्रहीता नामसे कहे हुए प्रकृतिस्थ पुरुषको टीकाकारोंने 'विचार' शब्दवाच्य सूक्ष्म विषयसे अलग कैसे कहा—और सूत्रकारोंने तद्विषयक समाधिके भेदोंका वर्णन क्यों नहीं किया, यह विचारणीय है॥ ४५॥

सम्बन्ध—इकतालीसवें सूत्रसे पैंतालीसवेंतक सम्प्रज्ञातसमाधिका भेद बतलाकर अब उन सब प्रकारकी समाधियोंका सहेतुक दूसरा नाम बतलाते हैं—

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

ता एव=वे सब-की-सब ही; **सबीजः**=सबीज; **समाधिः**=समाधि हैं।

व्याख्या—निर्वितर्क और निर्विचार समाधियाँ निर्विकल्प होनेपर भी निर्बीज नहीं हैं, ये सब-की-सब सबीज समाधि ही हैं; क्योंकि इनमें बीजरूपसे

किसी-न-किसी ध्येय पदार्थको विषय करनेवाली चित्तवृत्तिका अस्तित्व-सा रहता है। अतः सम्पूर्ण वृत्तियोंका पूर्णतया निरोध न होनेके कारण इन समाधियोंमें पुरुषको कैवल्य-अवस्थाका लाभ नहीं होता ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—*उक्त चार प्रकारकी समाधियोंमेंसे निर्विचार समाधि ही सबसे श्रेष्ठ है, यह प्रतिपादन करनेके लिये उसकी विशेष अवस्थाका फलसहित वर्णन करते हैं—*

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचारवैशारद्ये=निर्विचार समाधि अत्यन्त निर्मल होनेपर (योगीको); **अध्यात्मप्रसादः**=अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है।

व्याख्या—निर्विचार समाधिके अभ्याससे जब योगीके चित्तकी स्थिति सर्वथा परिपक्व हो जाती है, उसकी समाधि-स्थितिमें किसी प्रकारका किंचिन्मात्र भी दोष नहीं रहता (योग० १। ४०)। उस समय योगीकी बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ—निर्मल हो जाती है (योग० ३। ५) ॥ ४७ ॥

सम्बन्ध—*अतः*—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

तत्र=उस समय (योगीकी); **प्रज्ञा**=बुद्धि; **ऋतम्भरा**=ऋतम्भरा होती है।

व्याख्या—उस अवस्थामें योगीकी बुद्धि वस्तुके सत्य (असली) स्वरूपको ग्रहण करनेवाली होती है; उसमें संशय और भ्रमका लेश भी नहीं रहता ॥ ४८ ॥

सम्बन्ध—*उक्त ऋतम्भरा प्रज्ञाकी विशेषताका वर्णन करते हैं—*

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्=श्रवण और अनुमानसे होनेवाली बुद्धिकी अपेक्षा; **अन्यविषया**=इस बुद्धिका विषय भिन्न है; **विशेषार्थत्वात्**=क्योंकि यह विशेष अर्थवाली है।

व्याख्या—वेद, शास्त्र और आप्त पुरुषके वचनोंसे वस्तुका सामान्य

****

ज्ञान होता है, पूर्ण ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार अनुमानसे भी साधारण ज्ञान ही होता है। बहुत-से सूक्ष्म पदार्थोंमें तो अनुमानकी पहुँच ही नहीं है। अतः वेद-शास्त्रोंमें किसी वस्तुके स्वरूपका वर्णन सुननेसे जो तद्विषयक निश्चय होता है, वह श्रुतबुद्धि है; इसी प्रकार अनुमान (युक्ति) प्रमाणसे जो वस्तुके स्वरूपका निश्चय होता है, वह अनुमान बुद्धि है। ये दोनों प्रकारकी बुद्धि-वृत्तियाँ वस्तुके स्वरूपको सामान्यरूपसे ही विषय करती हैं, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित उसका पूर्ण ज्ञान इनसे नहीं होता; किंतु ऋतम्भरा प्रज्ञासे वस्तुके स्वरूपका यथार्थ और पूर्ण (अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित) ज्ञान हो जाता है। अतः यह उन दोनों प्रकारकी बुद्धियोंसे भिन्न और अत्यन्त श्रेष्ठ है॥ ४९॥

सम्बन्ध—*इस ऋतम्भरा प्रज्ञाका और भी महत्त्व बतलाते हैं—*

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

तज्जः=उससे उत्पन्न होनेवाला; **संस्कारः**=संस्कार; **अन्यसंस्कार-प्रतिबन्धी**=दूसरे संस्कारोंका बाध करनेवाला होता है।

व्याख्या—मनुष्य जिस किसी भी वस्तुका अनुभव करता है, जो कुछ भी क्रिया करता है, उन सबके संस्कार अन्तःकरणमें इकट्ठे हुए रहते हैं, इन्हींको योगशास्त्रमें कर्माशय (योग० २। १२) के नामसे कहा है। ये ही मनुष्यको संसारचक्रमें भटकानेवाले मुख्य कारण हैं (योग० २। १३); इनके नाशसे ही मनुष्य मुक्तिलाभ कर सकता है। अतः उक्त बुद्धिका महत्त्व प्रकट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि इस बुद्धिके प्रकट होनेपर जब मनुष्यको प्रकृतिके यथार्थ रूपका भान हो जाता है; तब उसका प्रकृतिमें और उसके कार्योंमें स्वभावसे ही वैराग्य हो जाता है। उस वैराग्यके संस्कार पूर्व इकट्ठे हुए सब प्रकारके रागद्वेषमय संस्कारोंका नाश कर डालते हैं (योग० २। २६; ३। ४९-५०), इससे योगी शीघ्र ही मुक्तावस्थाके समीप पहुँच जाता है॥ ५०॥

सम्बन्ध—*जब निर्बीज-समाधिरूप कैवल्य-अवस्थाका वर्णन करते हुए इस पादकी समाप्ति करते हैं—*

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

तस्य=उसका; **अपि**=भी; **निरोधे**=निरोध हो जानेपर; **सर्वनिरोधात्**=सबका निरोध हो जानेके कारण; **निर्बीजः**=निर्बीज; **समाधिः**=समाधि (हो जाती है)।

व्याख्या—जब ऋतम्भरा प्रज्ञाजनित संस्कारके प्रभावसे अन्य सब प्रकारके संस्कारोंका अभाव हो जाता है, उसके बाद उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न संस्कारोंमें भी आसक्ति न रहनेके कारण उनका भी निरोध हो जाता है। उनका निरोध होते ही समस्त संस्कारोंका निरोध अपने-आप हो जाता है। अतः संस्कारके बीजका सर्वथा अभाव हो जानेसे इस अवस्थाका नाम निर्बीज-समाधि है। इसीको कैवल्य-अवस्था भी कहते हैं (योग० ३ । ५०) ॥ ५१ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

साधनपाद—२

सम्बन्ध—पहले पादमें योगका स्वरूप, उसके भेद और उसके फलका संक्षेपमें वर्णन किया गया। साथ ही उसके उपायभूत अभ्यास और वैराग्यका तथा ईश्वरप्रणिधान आदि दूसरे साधनोंका भी वर्णन किया गया, किंतु उसमें बतलायी हुई रीतिसे निर्बीज-समाधि वही साधक प्राप्त कर सकता है, जिसका अन्तःकरण स्वभावसे ही शुद्ध है एवं जो योगसाधनामें तत्पर है। अतः अब साधारण साधकोंके लिये क्रमशः अन्तःकरणकी शुद्धिपूर्वक निर्बीज-समाधि प्राप्त करनेका उपाय बतलानेके लिये साधनपाद नामक दूसरे पादका आरम्भ किया जाता है—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि=तप-स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति—ये तीनों; **क्रियायोगः**=क्रियायोग हैं।

व्याख्या—(१) तप—अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यताके अनुसार स्वधर्मका पालन करना और उसके पालनमें जो शारीरिक या मानसिक अधिक-से-अधिक कष्ट प्राप्त हो, उसे सहर्ष सहन करना—इसका नाम 'तप' है। व्रत, उपवास आदि भी इसीमें आ जाते हैं। निष्कामभावसे इस तपका पालन करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण अनायास ही शुद्ध हो जाता है, यह गीतोक्त कर्मयोगका ही अङ्ग है।

(२) स्वाध्याय—जिनसे अपने कर्तव्य-अकर्तव्यका बोध हो सके, ऐसे वेद, शास्त्र, महापुरुषोंके लेख आदिका पठन-पाठन और भगवान्‌के ॐकार आदि किसी नामका या गायत्रीका और किसी भी इष्टदेवताके मन्त्रका जप करना 'स्वाध्याय' है। इसके सिवा अपने जीवनके अध्ययनका नाम भी स्वाध्याय है।

अतः साधकको प्राप्त विवेकके द्वारा अपने दोषोंको खोजकर निकालते रहना चाहिये।

(३) ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वरके शरणापन्न हो जानेका नाम 'ईश्वर-प्रणिधान' है। उसके नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभाव आदिका श्रवण, कीर्तन और मनन करना, समस्त कर्मोंको भगवान्के समर्पण कर देना, अपनेको भगवान्के हाथका यन्त्र बनाकर जिस प्रकार वह नचावे, वैसे ही नाचना, उसकी आज्ञाका पालन करना, उसीमें अनन्य प्रेम करना—ये सभी ईश्वर-प्रणिधानके अङ्ग हैं।

यद्यपि तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये तीनों ही यम, नियम आदि योगके अङ्गोंमें नियमोंके अन्तर्गत आ जाते हैं तथापि इन तीनों साधनोंका विशेष महत्त्व और इनकी सुगमता दिखलानेके लिये पहले क्रियायोगके नामसे इनका अलग वर्णन किया गया है॥ १॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त क्रियायोगका फल बतलाते हैं—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २॥

समाधिभावनार्थः=(यह क्रियायोग) समाधिकी सिद्धि करनेवाला; च=और; **क्लेशतनूकरणार्थः**=अविद्यादि क्लेशोंको क्षीण करनेवाला है।

व्याख्या—उपर्युक्त क्रियायोग अविद्यादि दोषोंको क्षीण करनेवाला और समाधिकी सिद्धि करनेवाला है अर्थात् इसके साधनसे साधकके अविद्यादि क्लेशोंका क्षय होकर उसको कैवल्य-अवस्थातक समाधिकी प्राप्ति हो सकती है॥ २॥

सम्बन्ध—दूसरे सूत्रमें क्रियायोगका फल समाधिसिद्धि और क्लेशोंका क्षय बतलाया गया, उनमेंसे समाधिके लक्षण और फलका वर्णन तो पहले पादमें हो चुका है, परंतु क्लेश कितने हैं, उनके नाम क्या हैं, वे किस-किस अवस्थामें रहते हैं, उनका क्षय कैसे होता है और उनका नाश क्यों करना चाहिये—इन सब बातोंका वर्णन नहीं हुआ। अतः प्रसङ्गानुसार इस प्रकरणका आरम्भ करते हैं—

****

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः=अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (ये पाँचों); **क्लेशाः**=क्लेश हैं।

व्याख्या—ये अविद्यादि पाँचों ही जीवमात्रको संसारचक्रमें घुमानेवाले महादुःखदायक हैं। इस कारण सूत्रकारने इनका नाम 'क्लेश' रखा है।

कितने ही टीकाकारोंका तो कहना है कि ये पाँचों क्लेश ही पाँच प्रकारका विपर्ययज्ञान है। कुछ इनमेंसे केवल अविद्या और विपर्ययवृत्तिकी ही एकता करते हैं; किंतु ये दोनों ही बातें युक्तिसंगत नहीं मालूम होतीं; क्योंकि प्रमाणवृत्तिमें विपर्ययवृत्तिका अभाव है, पर अविद्यादि पाँचों क्लेश वहाँ भी विद्यमान रहते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञामें विपर्ययका लेश भी नहीं स्वीकार किया जा सकता, परंतु जिस अविद्यारूप क्लेशको द्रष्टा और दृश्यके संयोगका हेतु माना गया है, वह तो वहाँ भी रहता ही है, अन्यथा संयोगके अभावसे हेयका नाश होकर साधकको उसी क्षण कैवल्य-अवस्थाकी प्राप्ति हो जानी चाहिये थी। इसके सिवा एक बात और भी है। इस ग्रन्थमें कैवल्य-स्थितिको प्राप्त सिद्ध योगीके कर्म अशुक्ल और अकृष्ण अर्थात् पुण्य-पापके संस्कारोंसे रहित माने गये हैं (योग० ४।७), इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन्मुक्त योगीद्वारा भी कर्म अवश्य किये जाते हैं। तब यह भी मानना पड़ेगा कि व्युत्थान-अवस्थामें जब वह कर्म करता है तो विपर्यय-वृत्तिका प्रादुर्भाव भी स्वाभाविक होता है; क्योंकि पाँचों ही वृत्तियाँ चित्तका धर्म हैं और व्युत्थान-अवस्थामें चित्त विद्यमान रहता है, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा। किंतु जीवन्मुक्त योगीमें अविद्या भी रहती है, यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि अविद्या वर्तमान है तो वह जीवन्मुक्त ही कैसा; इसी तरह और भी बहुत-से कारण हैं (देखिये योग० १।८ की टीका), जिनसे विपर्यय और अविद्याकी एकता माननेमें सिद्धान्तकी हानि होती है। अतः विद्वान् सज्जनोंको इसपर विचार करना चाहिये ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—*अब क्लेशोंकी अवस्थाके भेद बतलाते हुए यह बात कहते हैं कि इन सबका मूल कारण अविद्यारूप क्लेश है—*

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्=जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार—(इस प्रकार चार) अवस्थाओंमें (वर्तमान) रहनेवाले हैं एवं; **उत्तरेषाम्**=जिनका वर्णन (तीसरे सूत्रमें) अविद्याके बाद किया गया है, उन (अस्मितादि चारों क्लेशों) का; **क्षेत्रम्**=कारण; **अविद्या**=अविद्या है।

व्याख्या—(१) प्रसुप्त—चित्तमें विद्यमान रहते हुए भी जिस समय जो क्लेश अपना कार्य नहीं करता, उस समय उसे प्रसुप्त कहा जाता है। प्रलयकाल और सुषुप्तिमें चारों ही क्लेशोंकी प्रसुप्त-अवस्था रहती है।

(२) तनु—क्लेशोंमें जो कार्य करनेकी शक्ति है, उसका जब योगके साधनोंद्वारा ह्रास कर दिया जाता है; तब वे हीन शक्तिवाले क्लेश 'तनु' कहलाते हैं। देखनेमें भी आता है कि ये राग-द्वेषादि क्लेश साधारण मनुष्योंकी भाँति साधकोंपर अपना आधिपत्य नहीं जमा सकते अर्थात् साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा साधकोंपर उनका प्रभाव बहुत कम पड़ता है।

(३) विच्छिन्न—जब कोई क्लेश उदार होता है, उस समय दूसरा क्लेश दब जाता है, वह उसकी 'विच्छिन्नावस्था' है, जैसे रागकी उदार-अवस्थाके क्षणमें द्वेष दब जाता है और द्वेषकी उदार-अवस्थाके क्षणमें राग दबा रहता है।

(४) उदार—जिस समय जो क्लेश अपना कार्य पूर्णतया कर रहा हो उस समय वही 'उदार' कहलाता है।

उपर्युक्त पाँच क्लेशोंमेंसे अस्मितादि चार क्लेशोंके ही प्रसुप्तादि चार अवस्थाभेद बतलाये गये हैं, अविद्याके नहीं; क्योंकि वह अन्य चारोंका कारण है, उसके नाशसे सबका सदाके लिये समूल नाश हो जाता है॥ ४॥

सम्बन्ध—*अब अविद्याका स्वरूप बतलाते है—*

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु=अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मामें; **नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः**=नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभावकी अनुभूति; **अविद्या**='अविद्या' है।

व्याख्या—इस लोक और परलोकके समस्त भोग और भोगोंका आयतन यह मनुष्य शरीर भी अनित्य है, इस बातको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा समझकर भी जिसके प्रभावसे मनुष्य उनमें नित्यत्वबुद्धि करके राग-द्वेषादि कर लेता है, यह अनित्यमें नित्यकी अनुभूतिरूप अविद्या है।

इसी प्रकार हाड़, मांस, मज्जा आदि अपवित्र धातुओंके समुदायरूप अपने और स्त्री आदिके शरीरोंको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा अपवित्र समझते हुए भी जिसके कारण मनुष्य अपने शरीरमें पवित्रताका अभिमान करता है और स्त्री-पुत्र आदिके शरीरोंसे प्यार करता है, यह अपवित्रमें पवित्रकी अनुभूतिरूप अविद्या है।

वैसे ही प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा विचार करनेपर सभी भोग दुःखरूप हैं—यह बात विचारशील साधकको समझमें आ जाती है (योग० २।१५)। इसपर भी मनुष्य उन भोगोंको सुखदायक समझकर उनके भोगनेमें प्रवृत्त हुआ रहता है, यही दुःखमें सुखकी अनुभूतिरूप अविद्या है।

यद्यपि यह बात थोड़ा-सा विचार करते ही समझमें आ जाती है कि जड शरीर आत्मा नहीं है तथापि मनुष्य इसीको अपना स्वरूप माने रहता है,आत्मा इससे सर्वथा असङ्ग और चेतन है—इस बातका अनुभव नहीं कर सकता, इसका नाम अनात्मामें आत्मभावका अनुभूतिरूप अविद्या है।

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-प्रमाणसे वस्तुस्थितिका सामान्य ज्ञान हो जानेपर विपर्ययवृत्ति नहीं रहती, तो भी अविद्याका नाश नहीं होता; इससे यह सिद्ध होता है कि चित्तकी विपर्ययवृत्तिका नाम अविद्या नहीं है॥ ५॥

सम्बन्ध—*अब अस्मिताका स्वरूप बतलाते हैं—*

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

दृग्दर्शनशक्त्योः=दृक्-शक्ति और दर्शन-शक्ति इन दोनोंका; **एकात्मता इव**=एकरूप-सा हो जाना; **अस्मिता**='अस्मिता' है।

व्याख्या—दृक्-शक्ति अर्थात् द्रष्टा—पुरुष और दर्शन-शक्ति अर्थात् बुद्धि—ये दोनों सर्वथा भिन्न और विलक्षण हैं। द्रष्टा चेतन है और बुद्धि जड है। इनकी एकता हो ही नहीं सकती। तथापि अविद्याके कारण दोनोंकी एकता-सी हो रही है (योग० २। २४)। इसीको द्रष्टा और दृश्यका संयोग कहते हैं। यही प्रकृति और पुरुषके स्वरूपकी उपलब्धिका हेतु माना गया है (योग० २। २३)। इस संयोगके रहते हुए भी पुरुष और बुद्धिका भिन्न-भिन्न स्वरूप विचारके द्वारा और सम्प्रज्ञात-समाधिके द्वारा समझमें तो आता है; परंतु जबतक निर्बीज-समाधिद्वारा अविद्याका सर्वथा नाश नहीं कर दिया जाता, तबतक संयोगका अभाव नहीं होता है। इस कारण इनके शुद्ध स्वरूपका अनुभव नहीं होता (योग० ३। ३५)। अतः साधकको चाहिये कि तत्परतासे उत्साहपूर्वक योगसाधनमें लगकर शीघ्र ही अविद्याके नाशद्वारा संयोगरूप अस्मिता नामक क्लेशका नाश कर दे और कैवल्य-स्थितिको प्राप्त कर ले॥ ६॥

सम्बन्ध—*अब राग नामक क्लेशका स्वरूप बतलाते हैं—*

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुखानुशयी=सुखकी प्रतीतिके पीछे रहनेवाला क्लेश; **रागः**='राग' है।

व्याख्या—प्रकृतिस्थ जीवको जब कभी जिस किसी अनुकूल पदार्थमें सुखकी प्रतीति हुई है या होती है, उसमें और उसके निमित्तोंमें उसकी आसक्ति (प्रीति) हो जाती है, उसीको 'राग' कहते हैं। अतः इस राग नामक क्लेशको सुखकी प्रतीतिके साथ-साथ रहनेवाला कहा गया है॥ ७॥

सम्बन्ध—*अब द्वेष नामक क्लेशका स्वरूप बतलाते हैं—*

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःखानुशयी=दुःखकी प्रतीतिके पीछे रहनेवाला क्लेश; **द्वेषः**='द्वेष' है।

****

व्याख्या—मनुष्यको जब कभी जिस किसी प्रतिकूल पदार्थमें दुःखकी प्रतीति हुई है या होती है, उसमें और उसके निमित्तोंमें उसका द्वेष हो जाता है; अतः यह द्वेषरूप क्लेश दुःखकी प्रतीतिके पीछे यानी साथ-साथ रहनेवाला है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—*अब अभिनिवेश नामक क्लेशका स्वरूप बतलाते हैं—*

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

स्वरसवाही=जो परम्परागत स्वभावसे चला आ रहा है एवं; **विदुषः अपि तथारूढः**=जो मूढ़ोंकी भाँति विवेकशील पुरुषोंमें भी विद्यमान देखा जाता है, वह (मरणभयरूप क्लेश), **अभिनिवेशः**='अभिनिवेश' है।

व्याख्या—यह मरणभयरूप क्लेश सभी प्राणियोंमें अनादि कालसे स्वाभाविक है; अतः कोई भी जीव यह नहीं चाहता कि मैं न रहूँ, सभी अपनी विद्यमानता चाहते हैं। एक छोटे-से-छोटा कीट भी मरणसे डरकर अपनी रक्षाका उपाय करता है। (इससे पूर्वजन्मकी सिद्धि होती है; क्योंकि यदि मरण-दुःख पहले अनुभव किया हुआ नहीं होता तो उसका भय कैसे होता ?) यह मरणभय जीवोंके अन्तःकरणमें इतना गहरा बैठा हुआ है कि मूर्खके जैसा ही विवेकशीलपर भी इसका प्रभाव पड़ता है, इसीलिये इसका नाम 'अभिनिवेश' अर्थात् 'अत्यन्त गहराईमें प्रविष्ट' रखा गया है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—*इन पाँच प्रकारके क्लेशोंको तनु अर्थात् सूक्ष्म बना देनेका उपाय—'क्रियायोग' पहले बतला चुके। 'क्रियायोग'के द्वारा सूक्ष्म किये हुए क्लेशोंका नाश किस उपायसे करना चाहिये, यह बात अगले सूत्रमें बतलाते हैं।*

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

ते=वे; **सूक्ष्माः**=सूक्ष्मावस्थाको प्राप्त (क्लेश); **प्रतिप्रसवहेयाः**=चित्तको अपने कारणमें विलीन करनेके साधनद्वारा नष्ट करनेयोग्य हैं।

व्याख्या—क्रियायोग या ध्यानयोगद्वारा सूक्ष्म किये हुए क्लेशोंका नाश

****

निर्बीज समाधिके द्वारा चित्तको उसके कारणमें विलीन करके करना चाहिये; क्योंकि क्रियायोग या ध्यानद्वारा क्षीण कर दिये जानेपर भी जो लेशमात्र क्लेश शेष रह जाते हैं, उनका नाश द्रष्टा और दृश्यके संयोगका अभाव होनेपर ही होता है, उसके पहले क्लेशोंका सर्वथा नाश नहीं होता, यह भाव है ॥ १० ॥

सम्बन्ध—*अब क्लेशोंको क्षीण करनेका क्रियायोगसे अतिरिक्त दूसरा साधन बतलाते हैं—*

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

तद्वृत्तयः=उन क्लेशोंकी (स्थूल) वृत्तियाँ; **ध्यानहेयाः**=ध्यानके द्वारा नाश करनेयोग्य हैं।

व्याख्या—उन क्लेशोंकी जो स्थूल वृत्तियाँ हैं, उनका यदि पूर्वोक्त क्रियायोगके द्वारा नाश करके उन क्लेशोंको सूक्ष्म नहीं बना दिया गया हो तो पहले ध्यानके द्वारा उनकी स्थूल वृत्तियोंका नाश करके उनको सूक्ष्म बना लेना चाहिये, तभी निर्बीज-समाधिकी सिद्धि सुगमतासे हो सकेगी। उसके बाद निर्बीज-समाधिसे क्लेशोंका सर्वथा अभाव अपने-आप हो जायगा ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—*उपर्युक्त क्लेश किस प्रकार जीवके महान् दुःखोंके कारण हैं; इस बातको स्पष्ट करनेके लिये अलग प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

क्लेशमूलः=क्लेशमूलक; **कर्माशयः**=कर्मसंस्कारोंका समुदाय; **दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः**=दृष्ट (वर्तमान) और अदृष्ट (भविष्यमें होनेवाले) दोनों प्रकारके ही जन्मोंमें भोगा जानेवाला है।

व्याख्या—कर्मोंके संस्कारोंकी जड़ उपर्युक्त पाँचों क्लेश ही हैं। अविद्यादि क्लेशोंके न रहनेपर किये हुए कर्मोंसे कर्माशय नहीं बनता, बल्कि वैसे राग-द्वेषरहित निष्काम कर्म तो पूर्वसंचित कर्माशयका भी नाश करनेवाले होते हैं (गीता ४। २३)। यही क्लेशमूलक कर्माशय जिस प्रकार इस जन्ममें

दुःख देता है, उस प्रकार भविष्यमें होनेवाले जन्मोंमें भी दुःखदायक है। अतः साधकको इसकी जड़ काट डालनी चाहिये अर्थात् पूर्वोक्त क्लेशोंका सर्वथा नाश कर देना चाहिये ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—*उस कर्माशयका फल कबतक मिलता रहता है और वह क्या है, इसको स्पष्ट करते हैं—*

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

मूले सति=मूलके विद्यमान रहनेतक; **तद्विपाकः**=उस (कर्माशय) का परिणाम; **जात्यायुर्भोगाः**=पुनर्जन्म, आयु और भोग होता रहता है।

व्याख्या—जबतक क्लेशरूप जड़ विद्यमान रहती है, तबतक इस कर्मोंके संस्कार-समुदायरूप कर्माशयका विपाक यानी परिणाम—बार-बार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होना, वहाँपर निश्चित आयुतक जीते रहकर फिर मरण-दुःखको भोगना और जीवनावस्थामें जो विवेकदृष्टिसे सभी दुःखरूप हैं, ऐसे भोगोंका सम्बन्ध होना—ऐसे तीन प्रकारका होता रहता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—*वे जाति, आयु और भोगरूप परिणाम किस प्रकारके होते हैं, यह बतलाते हैं—*

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

ते=वे (जन्म, आयु और भोग); **ह्लादपरितापफलाः**=हर्ष और शोकरूप फलको देनेवाले होते हैं; **पुण्यापुण्यहेतुत्वात्**=क्योंकि उनके पुण्यकर्म और पापकर्म—दोनों ही कारण हैं।

व्याख्या—जो जन्म पुण्यकर्मका परिणाम है, वह सुखदायक होता है और जो पापकर्मका परिणाम है, वह दुःखदायक होता है। इसी प्रकार आयुका जितना समय शुभकर्मका परिणाम है, उतना समय सुखदायक होता है और जितना पापकर्मका परिणाम है, उतना दुःखदायक होता है। वैसे ही जो-जो भोग अर्थात् सांसारिक मनुष्योंके, अन्य प्राणियोंके पदार्थोंके और क्रिया एवं

परिस्थिति आदिके संयोग-वियोग पुण्यकर्मके परिणाम होते हैं, वे हर्षप्रद होते हैं और जो पापकर्मके परिणाम होते हैं, वे शोकप्रद होते हैं ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—*यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि यदि यही बात है तब तो जिसका परिणाम केवल दुःखप्रद फल (जन्म, आयु और भोग) हैं ऐसे कर्माशयका ही उसके मूलसहित नाश करना उचित है। उसके साथ सुखप्रद कर्माशयका नाश करनेकी बात क्यों कही ? इसपर कहते हैं—*

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

परिणामतापसंस्कारदुःखैः=परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कार-दुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण; **च**=और; **गुणवृत्तिविरोधात्**=तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण; **विवेकिनः**=विवेकीके लिये; **सर्वम्**=सब-के-सब (कर्मफल); **दुःखम् एव**=दुःखरूप ही हैं।

व्याख्या—(१) परिणामदुःख—जो 'कर्मविपाक' भोगकालमें स्थूल दृष्टिसे सुखप्रद प्रतीत होता है, उसका भी परिणाम (नतीजा) दुःख ही है। जैसे स्त्रीप्रसङ्गके समय मनुष्यको सुख भासता है; परंतु उसका परिणाम बल, वीर्य, तेज, स्मृति आदिका ह्रास प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, ऐसे ही दूसरे भोगोंमें भी समझ लेना चाहिये।*

भोगोंको भोगते-भोगते मनुष्य थक जाता है, उन्हें भोगनेकी शक्ति उसमें नहीं रहती, परंतु तृष्णा बनी रहती है, इससे वह भोगरूप सुख भी दुःख ही है।

---

* गीतामें भी कहा है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ (१८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है; परंतु परिणाममें विषके सदृश है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

****

यह भोगके अन्तमें अनुभव होनेवाला दुःख भी परिणाम-दुःखकी ही गणनामें है।

इन्द्रियों और पदार्थोंके सम्बन्धसे जब मनुष्यको किसी भी प्रकारके भोगमें सुखकी प्रतीति होती है, तब उसमें राग—आसक्ति अवश्य हो जाती है। इसलिये वह सुख रागरूप क्लेशसे मिला हुआ है। आसक्तिवश मनुष्य उस भोगकी प्राप्तिके साधनरूप अच्छे-बुरे कर्मोंका आरम्भ भी करेगा ही। भोग्यवस्तुओंकी प्राप्तिमें असमर्थ होनेसे या विघ्न आनेपर द्वेष होना भी अवश्यम्भावी है। इसके सिवा, प्राणियोंकी हिंसाके बिना भोगकी सिद्धि भी नहीं होती। अतः राग, द्वेष और हिंसादिका परिणाम अवश्य ही दुःख है। यह भी परिणाम-दुःखता है।

(२) तापदुःख—सभी प्रकारके भोगरूप सुख विनाशशील हैं; उनसे वियोग होना निश्चित है, अतः भोगकालमें उनके विनाशकी सम्भावनासे भयके कारण तापदुःख बना रहता है। इसी तरह मनुष्यको जो सुखकारक भोग प्राप्त होते हैं वे सातिशय ही होते हैं, अर्थात् उसे जो कुछ प्राप्त है, उससे बढ़कर दूसरोंको भी प्राप्त है यह देखकर वह ईर्ष्यासे जलता रहता है। यह भी तापदुःख है। तथा भोगकी अपूर्णतासे भी भोगकालमें संताप बना रहता है, यह भी तापदुःख है।

(३) संस्कारदुःख—जिन-जिन भोगोंमें मनुष्यको सुखका अनुभव होता है, उस अनुभवके संस्कार उसके हृदयमें जम जाते हैं। जब उन भोग-सामग्रियोंसे उसका वियोग हो जाता है, तब वे संस्कार पहलेके सुखभोगकी स्मृतिद्वारा महान् दुःखके हेतु हो जाते हैं। देखनेमें भी आता है कि जब किसी मनुष्यकी स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि भोगसामग्री नष्ट हो जाती है, तब वह उनको याद कर-करके रोता रहता है कि मेरी स्त्री मुझे अमुक-अमुक प्रकारसे सुख देती थी, मेरे पास इतना धन था, मैं अपने धनसे स्वयं सुख भोगता था और लोगोंको सुख पहुँचाता था, आज मेरी यह दशा है कि मैं भिखारी होकर लोगोंसे सहायता माँगता फिरता हूँ—इत्यादि। इसके सिवा, वे भोग-संस्कार,

भोगासक्तिकी वृद्धिमें कारण होनेसे जन्मान्तरमें भी दुःखके हेतु हैं।

(४) गुणवृत्तिविरोध—गुणोंके कार्यका नाम गुणवृत्ति है, गुणोंके कार्यमें परस्पर अत्यन्त विरोध है। जैसे सत्त्वगुणका कार्य प्रकाश, ज्ञान और सुख है, तो तमोगुणका कार्य अन्धकार, अज्ञान और दुःख है। इस प्रकार इनके कार्योंमें विरोध होनेके कारण दुविधा बनी रहती है; सुख-भोगकालमें भी शान्ति नहीं मिलती; क्योंकि तीनों गुण एक साथ रहनेवाले हैं। सुखके अनुभवकालमें सत्त्वगुणकी प्रधानता रहते हुए भी रजोगुण और तमोगुणका अभाव नहीं हो जाता, अतः उस समय भी दुःख और शोक विद्यमान रहते हैं; इसलिये भी वह दुःख ही है। जैसे ध्यानकालमें और सत्सङ्ग करते समय सत्त्वगुणकी प्रधानता रहती है, अतः सात्त्विक सुख होता है, परंतु वहाँ भी सांसारिक स्फुरणा और तन्द्रा उस सुखमें विघ्न कर देते हैं ऐसे ही अन्य कामोंमें भी समझ लेना चाहिये।

उपर्युक्त परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख तथा गुणवृत्तियोंके विरोधसे होनेवाले दुःखको विचारद्वारा विवेकी पुरुष समझता है। इस कारण उसकी दृष्टिमें सभी 'कर्मविपाक' दुःखरूप ही हैं अर्थात् साधारण मनुष्य-समुदाय जिन भोगोंको सुखरूप समझता है, विवेकीके लिये वे भी दुःख ही हैं* ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त वर्णनसे यह सिद्ध हो गया है कि जन्म, आयु और भोगरूप

---

* यह बात गीताके पाँचवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें इस प्रकार कही गयी है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

अर्थात् इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी भोग हैं, वे सब-के-सब दुःखोंके ही कारण हैं तथा सभी आदि और अन्तवाले हैं, अतः विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमता।

****

सभी कर्म-विपाक दुःखरूप हैं; इसलिये उनका मूलसहित उच्छेद करना मनुष्यका कर्तव्य है। अतः अब उनको त्याज्य (नाश करनेयोग्य) बतलाकर उनसे मुक्ति पानेका उपाय बतलाते हुए अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

अनागतम्=जो आया नहीं है—आनेवाला है वह; **दुःखम्**=दुःख; **हेयम्**=हेय (नष्ट करनेयोग्य) है।

व्याख्या—वर्तमान जन्मके पहले जो अनेक योनियोंमें दुःख भोगे जा चुके, वे तो अपने-आप समाप्त हो गये, उनके विषयमें कोई विचार नहीं करना है। तथा जो वर्तमान हैं वे भी भोग देकर दूसरे क्षणमें अपने-आप लुप्त हो जायँगे, उनके लिये भी उपायकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु जो दुःख अभीतक प्राप्त नहीं हुए हैं, भविष्यमें होनेवाले हैं, उनका नाश उपायद्वारा अवश्य-कर्तव्य है; इसलिये उन्हींको 'हेय' बतलाया गया है॥ १६॥

सम्बन्ध—*जिसका नाश करना हो, उसके मूल कारणको जाननेकी आवश्यकता है; क्योंकि मूल कारणके नाशसे ही उसका पूर्णतया नाश हो सकता है; नहीं तो वह पुनः उत्पन्न हो सकता है। अतः उक्त 'हेय'का हेतु (कारण) बतलाते हैं।*

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टृदृश्ययोः=द्रष्टा और दृश्यका; **संयोगः**=संयोग; **हेयहेतुः**=(उक्त) हेयका कारण है।

व्याख्या—ऊपर जो नाश करनेयोग्य आनेवाले दुःख बतलाये गये हैं, उनका मूल कारण द्रष्टा और दृश्यका अर्थात् पुरुष और प्रकृतिका संयोग यानी जड-चेतनकी ग्रन्थि है। अतः इस संयोगका नाश कर देनेसे मनुष्य सर्वथा दुःखोंसे निवृत्त हो सकता है॥ १७॥

सम्बन्ध—*पूर्व सूत्रमें द्रष्टा, दृश्य और उनका संयोग—इन तीनके नाम आये हैं, उनमेंसे पहले दृश्यका स्वभाव, स्वरूप और प्रयोजन बतलाते हैं—*

****

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्=प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है; **भूतेन्द्रियात्मकम्**=भूत और इन्द्रियाँ जिसका (प्रकट) स्वरूप है; **भोगापवर्गार्थम्**=(पुरुषके लिये) भोग और मुक्तिका सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है, ऐसा; **दृश्यम्**=दृश्य है।

व्याख्या—सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण और इनका कार्य जो कुछ भी देखने, सुनने और समझनेमें आता है, वह सब-का-सब दृश्यके अन्तर्गत है। सत्त्वगुणका मुख्य धर्म प्रकाश है, रजोगुणका मुख्य धर्म क्रिया (हलचल) है और तमोगुणका मुख्य धर्म स्थिति अर्थात् जडता और सुषुप्ति आदि है। इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको ही प्रधान या प्रकृति कहते हैं। यह सांख्यका मत है। अतः सब अवस्थाओंमें अनुगत तीनों गुणोंका जो प्रकाश, क्रिया और स्थितिरूप स्वभाव है, वही दृश्यका स्वभाव है।

पाँच स्थूल भूत, पाँच तन्मात्रा, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि और अहंकार—ये सब (तेईस तत्त्व) प्रकृतिके कार्य होनेसे उसके स्वरूप हैं।

भोगासक्त पुरुषको अपना स्वरूप दिखलाकर भोग प्रदान करना और मुक्ति चाहनेवाले योगीको द्रष्टाका स्वरूप दिखलाकर मुक्ति प्रदान करना दृश्यका प्रयोजन है। द्रष्टाको उसका निज स्वरूप दिखा देनेके बाद इसका कोई प्रयोजन नहीं रहता, उस पुरुषके लिये यह अस्त (लुप्त) हो जाता है (२।२२)॥ १८॥

सम्बन्ध—उक्त दृश्यके भेदोंका वर्णन अपने ग्रन्थकी परिभाषामें करते हैं—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि=विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग—ये चार; **गुणपर्वाणि**=(उपर्युक्त) सत्त्वादि गुणोंके भेद (अवस्थाएँ) हैं।

व्याख्या—(१) विशेष—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये

पाँच स्थूल भूत तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन—इस प्रकार सब मिलकर सोलहोंका नाम 'विशेष' है। गुणोंके विशेष धर्मोंकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) इन्हींसे होती है, इसलिये इनको विशेष कहते हैं। सांख्यकारिकामें इनका नाम विकार रखा है (सां० का० ३)।

(२) अविशेष—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच तन्मात्राएँ हैं, इन्हींको सूक्ष्म महाभूत भी कहते हैं; क्योंकि ये स्थूल पञ्च महाभूतोंके कारण हैं तथा छठा अहंकार जो कि मन और इन्द्रियोंका कारण है, इन छहोंका नाम 'अविशेष' है। इनका स्वरूप इन्द्रियगोचर नहीं है, इसलिये इनको 'अविशेष' कहते हैं।

(३) लिङ्गमात्र—उपर्युक्त बाईस तत्त्वोंका कारणभूत जो महत्तत्त्व है, जिसका वर्णन उपनिषदोंमें और गीतामें बुद्धिके नामसे किया गया है, (कठ० १। ३। १०; गीता १३। ५) उसका नाम 'लिङ्गमात्र' है। इसकी उपलब्धि केवल सत्तामात्रसे ही होती है, इस कारण इसको 'लिङ्गमात्र' कहते हैं।

(४) अलिङ्ग—मूल प्रकृति, (सां० का०) जो कि तीनों गुणोंकी साम्यावस्था मानी गयी है, महत्तत्त्व जिसका पहला परिणाम (कार्य) है, उपनिषद् और गीतामें जिसका वर्णन अव्यक्त नामसे किया गया है (कठ० १। ३। ११; गीता १३। ५) उसका नाम 'अलिङ्ग' है। साम्यावस्थाको प्राप्त गुणोंके स्वरूपकी अभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिये प्रकृतिको चिह्नरहित (अव्यक्त) कहते हैं।

इस प्रकार चार अवस्थाओंमें विद्यमान रहनेवाले ये सत्त्वादि गुण ही दृश्य नामसे कहे गये हैं॥ १९॥

सम्बन्ध—*अब द्रष्टाके स्वरूपका वर्णन करते हैं—*

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

दृशिमात्रः=चेतनमात्र (ज्ञानस्वरूप आत्मा); **द्रष्टा**=द्रष्टा; **शुद्धः अपि**=यद्यपि स्वभावसे सर्वथा शुद्ध (निर्विकार) है, तो भी; **प्रत्ययानुपश्यः**=(बुद्धिके सम्बन्धसे) बुद्धिवृत्तिके अनुरूप देखनेवाला है।

व्याख्या—केवल चेतनमात्र ही जिसका स्वरूप है, ऐसा आत्मतत्त्व स्वरूपसे सर्वथा शुद्ध, निर्विकार है तो भी बुद्धिके सम्बन्धसे बुद्धिवृत्तिके अनुरूप देखनेवाला होनेसे 'द्रष्टा' कहलाता है।

वास्तवमें द्रष्टा पुरुष (आत्मतत्त्व) सर्वथा शुद्ध, निर्विकार, कूटस्थ, असङ्ग है तथापि इसका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ अनादिसिद्ध अविद्यासे माना जाता है। जबतक उस अविद्याके नाशद्वारा यह प्रकृतिसे अलग होकर अपने असली स्वरूपमें स्थित नहीं हो जाता तबतक बुद्धिके साथ एकताको प्राप्त हुआ-सा बुद्धिकी वृत्तियोंको देखता रहता है और जबतक उनको देखता है, तभीतक इसकी 'द्रष्टा' संज्ञा है। दृश्यका सम्बन्ध न रहनेपर द्रष्टा किसका ? फिर तो यह केवल चेतनमात्र, सर्वथा शुद्ध और निर्विकार है ही॥ २०॥

सम्बन्ध—दृश्य और द्रष्टाके स्वरूपका वर्णन करनेके बाद अब दृश्यके स्वरूपकी सार्थकताका प्रतिपादन करते हैं—

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा॥ २१॥

दृश्यस्य=(उक्त) दृश्यका; **आत्मा**=स्वरूप; **तदर्थः एव**=उस (द्रष्टा) के लिये ही है।

व्याख्या—उक्त द्रष्टाको अपने दर्शनद्वारा भोग प्रदान करनेके लिये और द्रष्टाके निज स्वरूपका दर्शन कराकर अपवर्ग (मुक्ति) प्रदान करनेके लिये—इस प्रकार पुरुषका प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये ही दृश्य है। इसीमें उसके होनेकी सार्थकता है। अठारहवें सूत्रमें दृश्यके लक्षणोंका वर्णन करते समय भी यही बात कही गयी है॥ २१॥

सम्बन्ध—पुरुषको अपवर्ग प्रदान कर देनेके बाद प्रकृतिका कोई कार्य शेष नहीं रहता, फिर उसका बना रहना निरर्थक है; अतः उसका अभाव हो जाना चाहिये; इसपर कहते हैं—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्॥ २२॥

****

कृतार्थम् प्रति=जिसका भोग और अपवर्गरूप कार्य पूर्ण कर दिया, उस पुरुषके लिये; **नष्टम्**=नाशको प्राप्त हुई; **अपि**=भी (वह प्रकृति); **अनष्टम्**=नष्ट नहीं होती; **तत् अन्यसाधारणत्वात्**=क्योंकि दूसरोंके लिये भी वह समान है।

व्याख्या—प्रकृतिका प्रयोजन किसी एक ही पुरुषके लिये भोग और अपवर्ग प्रदान करना नहीं है, वह तो सभी पुरुषोंके लिये समान है। अतः जिसका कार्य वह कर चुकी, उस कृतार्थ—मुक्त पुरुषके लिये उसकी आवश्यकता न रहनेके कारण यद्यपि वह उसके लिये नष्ट हो जाती है, तो भी दूसरे सब जीवोंको भोग और अपवर्ग प्रदान करना तो शेष है ही। इसलिये उसका सर्वथा नाश नहीं होता, वह विद्यमान रहती है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि प्रकृति परिणामी होनेपर भी अनादि और नित्य है। यहाँ जो मुक्त पुरुषके लिये उसका नष्ट होना बतलाया गया है, वह भी अदृश्य होना ही बतलाया गया है; क्योंकि योगके सिद्धान्तमें किसी भी वस्तुका सर्वथा अभाव नहीं माना गया है॥ २२॥

सम्बन्ध—*अब संयोगके स्वरूपका वर्णन करते हैं*—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

स्वस्वामिशक्त्योः=स्वशक्ति (प्रकृति) और स्वामिशक्ति (पुरुष)—इन दोनोंके; **स्वरूपोपलब्धिहेतुः**=स्वरूपकी प्राप्तिका जो कारण है, वह; **संयोगः**=‘संयोग’ है।

व्याख्या—दृश्यका स्वरूप द्रष्टाके ही लिये है, यह बात पहले कह आये हैं, इसी भावको लेकर इस सूत्रमें पुरुषको प्रकृतिका स्वामी बतलाया है और प्रकृतिको पुरुषका ‘स्व’ अर्थात् अपना यानी अधिकृत पदार्थ कहा है। उस प्रकृतिके साथ पुरुषका सम्बन्ध उन दोनोंके स्वरूपको जाननेके लिये ही है, अतः उस दर्शन (ज्ञान) शक्तिसे जबतक मनुष्य इस प्रकृतिके नाना रूपोंको देखता रहता है, तबतक तो भोगोंको भोगता रहता है। जब इनके

****

दर्शनसे विरक्त होकर अपने स्वरूप-दर्शनकी ओर झाँकता है, तब स्वरूपका दर्शन हो जाता है (योग० ३ । ३५) । फिर संयोगकी कोई आवश्यकता न रहनेसे उसका अभाव हो जाता है। यही पुरुषकी 'कैवल्य' अवस्था है (योग० ३ । ३४) ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—*अब उक्त संयोगका कारण बतलाते हैं*—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

तस्य=उस संयोगका; **हेतुः**=कारण; **अविद्या**=अविद्या है।

व्याख्या—सर्वथा निर्विकार असङ्ग चेतन पुरुषका जो यह जड प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है यह अनादिसिद्ध अविद्यासे ही है, वास्तवमें नहीं है।

यहाँ अविद्या विपर्ययवृत्तिका नाम नहीं है, किंतु अपने स्वरूपके अनादिसिद्ध अज्ञानका नाम अविद्या है। इसीलिये अपने स्वरूपके ज्ञानसे इसका नाश हो जाता है और उसके बाद प्रयोजन न रहनेपर वह ज्ञान भी शान्त हो जाता है। यही पुरुषका 'कैवल्य' है ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—*अब कारणसहित संयोगके अभावसे सिद्ध होनेवाले सर्वथा दुःखनाशरूप 'हान'का वर्णन करते हैं*—

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

तदभावात्=उस (अविद्या) के अभावसे; **संयोगाभावः**=संयोगका अभाव (हो जाता है, यही); **हानम्**='हान' (पुनर्जन्मादि भावी दुःखोंका अत्यन्त अभाव) है (और); **तत्**=वही; **दृशेः**=चेतन आत्माका; **कैवल्यम्**='कैवल्य' है।

व्याख्या—जब आत्मदर्शनरूप ज्ञानसे अविद्याका यानी अज्ञानका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब अज्ञानजनित संयोगका भी अपने-आप अभाव हो जाता है, फिर पुरुषका प्रकृतिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता और उसके जन्म-मरण आदि सम्पूर्ण दुःखोंका सदाके लिये अत्यन्त अभाव हो जाता है तथा पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है—यही उसका कैवल्य अर्थात् सर्वथा अकेलापन है ॥ २५ ॥

****

सम्बन्ध—*अब उक्त दुःखोंके अत्यन्त अभावरूप 'हान'का उपाय बतलाते हैं—*

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

अविप्लवा=निश्चल और निर्दोष; **विवेकख्यातिः**=विवेकज्ञान; **हानोपायः**=(उक्त) 'हान'का उपाय है।

व्याख्या—प्रकृति तथा उसके कार्य-बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाँ और शरीर—इन सबके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो जानेसे तथा आत्मा इनसे सर्वथा भिन्न और असङ्ग है, आत्माका इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार पुरुषके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेसे जो प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका अलग-अलग यथार्थ ज्ञान होता है, इसीका नाम 'विवेकज्ञान' है (योग० ३।५४)। उस समय चित्त विवेकज्ञानमें निमग्न और कैवल्यके अभिमुख रहता है। यह ज्ञान जब समाधिकी निर्मलता—स्वच्छता होनेपर पूर्ण और निश्चल हो जाता है, उसमें किसी प्रकारका भी मल नहीं रहता (योग० ४।३१), तब वह अविप्लव विवेकज्ञान कहलाता है। ऐसा विवेकज्ञान ही समस्त दुःखोंके अत्यन्त अभावरूप मुक्तिका उपाय है। इससे संसारके बीज अविद्यादि क्लेशोंका और समस्त कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जाता है (योग० ४।३०)। उसके बाद चित्त अपने आश्रयरूप—महत्तत्त्व आदिके सहित अपने कारणमें विलीन हो जाता है तथा प्रकृतिका जो स्वाभाविक परिणाम-क्रम है, वह उसके लिये बंद हो जाता है (योग० ४।३२)॥ २६॥

सम्बन्ध—*उक्त विवेकज्ञानके समय साधककी बुद्धि किस प्रकारकी होती है, यह बतलाते हैं—*

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

तस्य=उस (विवेकज्ञानप्राप्त) पुरुषकी; **सप्तधा**=सात प्रकारकी; **प्रान्तभूमिः**=अन्तिम स्थितिवाली; **प्रज्ञा**=बुद्धि (होती है)।

व्याख्या—जब निर्मल और अचल विवेकख्यातिके द्वारा योगीके चित्तका आवरण और मल सर्वथा नष्ट हो जाता है (योग० ४।३१) उस

समय उस चित्तमें दूसरे सांसारिक ज्ञानोंका उदय नहीं होता। अतः सात प्रकारकी उत्कर्ष अवस्थावाली प्रज्ञा (बुद्धि) उत्पन्न होती है। उनमें पहली चार प्रकारकी तो कार्यविमुक्तिकी द्योतक हैं, इस कारण वे 'कार्यविमुक्तिप्रज्ञा' कहलाती हैं और अन्तकी तीन चित्तविमुक्तिकी द्योतक हैं, इस कारण उनका नाम 'चित्तविमुक्तिप्रज्ञा' है।

कार्यविमुक्तिप्रज्ञा यानी कर्तव्यशून्य अवस्थाके चार भेद इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञेयशून्य अवस्था—जो कुछ जानना था जान लिया; अब कुछ भी जानना शेष नहीं रहा अर्थात् जितना गुणमय दृश्य है (योग० २। १८, १९), वह सब अनित्य और परिणामी है यह पूर्णतया जान लिया।

(२) हेयशून्य अवस्था—जिसका अभाव करना था, उसका अभाव कर दिया; अर्थात् द्रष्टा और दृश्यके संयोगका, जो कि हेयका हेतु है, अभाव कर दिया, अब कुछ भी अभाव करनेयोग्य शेष नहीं रहा।

(३) प्राप्यप्राप्त अवस्था—जो कुछ प्राप्त करना था, प्राप्त कर लिया अर्थात् समाधिद्वारा केवल अवस्थाकी प्राप्ति हो चुकी; अतः अब कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा।

(४) चिकीर्षाशून्य अवस्था—जो कुछ करना था, कर लिया अर्थात् हानका उपाय जो निर्मल और अचल विवेकज्ञान है, उसे सिद्ध कर लिया, अब और कुछ करना शेष नहीं रहा।

चित्तविमुक्तिप्रज्ञाके तीन भेद इस प्रकार हैं—

(१) चित्तकी कृतार्थता—चित्तने अपना अधिकार 'भोग और अपवर्ग' देना पूरा कर दिया, अब उसका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा।

(२) गुणलीनता—चित्त अपने कारणरूप गुणोंमें लीन हो रहा है, क्योंकि अब उसका कोई कार्य शेष नहीं रहा।

(३) आत्मस्थिति—पुरुष सर्वथा गुणोंसे अतीत होकर अपने स्वरूपमें अचल भावसे स्थित हो गया।

****

इस सात प्रकारकी प्रान्तभूमिप्रज्ञाको अनुभव करनेवाला योगी कुशल (जीवन्मुक्त) कहलाता है और चित्त जब अपने कारणमें लीन हो जाता है, तब भी कुशल (विदेहमुक्त) कहलाता है॥ २७॥

सम्बन्ध—*अब उक्त निर्मल विवेकज्ञानकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हैं—*

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगाङ्गानुष्ठानात्=योगके अङ्गका अनुष्ठान करनेसे; **अशुद्धिक्षये**= अशुद्धिका नाश होनेपर; **ज्ञानदीप्तिः**=ज्ञानका प्रकाश; **आविवेकख्यातेः**= विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।

व्याख्या—आगे बतलाये जानेवाले योगके आठ अङ्गोंका अनुष्ठान करनेसे अर्थात् उनको आचरणमें लानेसे चित्तके मलका अभाव होकर वह सर्वथा निर्मल हो जाता है, उस समय योगीके ज्ञानका प्रकाश विवेकख्यातितक हो जाता है अर्थात् उसे आत्माका स्वरूप, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियोंसे सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष दिखलायी देता है॥ २८॥

सम्बन्ध—*उक्त योगाङ्गोंके नाम और उनकी संख्या बतलाते हैं—*

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो-ऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः=यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि; **अष्टौ**=ये आठ; **अङ्गानि**=(योगके) अङ्ग हैं।

व्याख्या—इन आठोंके लक्षण और फलोंका वर्णन अगले सूत्रोंमें स्वयं सूत्रकारने ही किया है, अतः यहाँ विस्तारकी आवश्यकता नहीं है॥ २९॥

सम्बन्ध—*पहले यमोंका वर्णन करते हैं—*

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः=अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका

अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रहका अभाव)—ये पाँच; **यमाः**=यम हैं।

व्याख्या—(१) अहिंसा—मन, वाणी और शरीरसे किसी प्राणीको कभी किसी प्रकार किंचिन्मात्र भी दुःख न देना 'अहिंसा' है, परदोष-दर्शनका सर्वथा त्याग भी इसीके अन्तर्गत है।

(२) सत्य—इन्द्रिय और मनसे प्रत्यक्ष देखकर, सुनकर या अनुमान करके जैसा अनुभव किया हो, ठीक वैसा-का-वैसा ही भाव प्रकट करनेके लिये प्रिय और हितकर तथा दूसरेको उद्वेग उत्पन्न न करनेवाले जो वचन बोले जाते हैं, उनका नाम 'सत्य' है। इसी प्रकार कपट और छलरहित व्यवहारका नाम सत्यव्यवहार समझना चाहिये।

(३) अस्तेय—दूसरेके स्वत्वका अपहरण करना, छलसे या अन्य किसी उपायसे अन्यायपूर्वक अपना बना लेना 'स्तेय' (चोरी) है, इसमें सरकारकी टैक्सकी चोरी और घूसखोरी भी सम्मिलित है; इन सब प्रकारकी चोरियोंके अभावका नाम 'अस्तेय' है।

(४) ब्रह्मचर्य—मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले सब प्रकारके मैथुनोंका सब अवस्थाओंमें सदा त्याग करके सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना 'ब्रह्मचर्य' है।* अतः साधकको चाहिये कि न तो कामदीपन करनेवाले पदार्थोंका सेवन करे, न ऐसे दृश्योंको देखे, न ऐसी बातोंको सुने, न ऐसे साहित्यको पढ़े और न ऐसे विचारोंको ही मनमें लावे तथा स्त्रियोंका और स्त्री-आसक्त पुरुषोंका संग भी ब्रह्मचर्यमें बाधक है, अतः ऐसे संगसे सदा सावधानीके साथ अलग रहे।

(५) अपरिग्रह—अपने स्वार्थके लिये ममतापूर्वक धन, सम्पत्ति

---

* कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागी ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥

(गरुड० पूर्व० आचार० २३८। ६)

****

और भोग-सामग्रीका संचय करना 'परिग्रह' है, इसके अभावका नाम 'अपरिग्रह' है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—*उक्त यमोंकी सबसे ऊँची अवस्था बतलाते हैं—*

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः=(उक्त यम) जाति, देश, काल और निमित्तकी सीमासे रहित; **सार्वभौमाः**=सार्वभौम होनेपर; **महाव्रतम्**=महाव्रत हो जाते हैं।

व्याख्या—उक्त अहिंसादिका अनुष्ठान जब सार्वभौम अर्थात् सबके साथ, सब जगह और सब समय समानभावसे किया जाता है, तब ये महाव्रत हो जाते हैं। जैसे किसीने नियम लिया कि मछलीके सिवा अन्य जीवोंकी हिंसा नहीं करूँगा तो यह जाति-अवच्छिन्न अहिंसा है, इसी तरह कोई नियम ले कि मैं तीर्थोंमें हिंसा नहीं करूँगा तो यह देश-अवच्छिन्न अहिंसा है। कोई यह नियम करे कि मैं एकादशी, अमावास्या और पूर्णिमाको हिंसा नहीं करूँगा तो यह कालावच्छिन्न अहिंसा है। कोई नियम करे कि मैं विवाहके अवसरके सिवा अन्य किसी निमित्तसे हिंसा नहीं करूँगा तो यह समयावच्छिन्न (निमित्तसे सम्बन्धित) अहिंसा है। इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके भी भेद समझ लेने चाहिये। ऐसे यम व्रत तो हैं, परंतु सार्वभौम न होनेके कारण महाव्रत नहीं हैं। उपर्युक्त प्रकारका प्रतिबन्ध न लगाकर जब सभी प्राणियोंके साथ सब देशोंमें सदा-सर्वदा इनका पालन किया जाय, किसी भी निमित्तसे इनमें शिथिलता आनेका अवकाश न दिया जाय, तब ये सार्वभौम होनेपर 'महाव्रत' कहलाते हैं ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—*यमोंका वर्णन करके अब नियमोंका वर्णन करते हैं—*

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि=शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय

और ईश्वर-शरणागति—(ये पाँच); **नियमाः**=नियम हैं।

व्याख्या—(१) शौच—जल, मृत्तिकादिके द्वारा शरीर, वस्त्र और मकान आदिके मलको दूर करना बाहरकी शुद्धि है, इसके सिवा अपने वर्णाश्रम और योग्यताके अनुसार न्यायपूर्वक धनको और शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक अन्न आदि पवित्र वस्तुओंको प्राप्त करके उनके द्वारा शास्त्रानुकूल शुद्ध भोजनादि करना तथा सबके साथ यथायोग्य पवित्र बर्ताव करना—यह भी बाहरी शुद्धिके ही अन्तर्गत है। जप, तप और शुद्ध विचारोंके द्वारा एवं मैत्री आदिकी भावनासे अन्तःकरणके राग-द्वेषादि मलोंका नाश करना भीतरकी पवित्रता है।

(२) संतोष—कर्तव्यकर्मका पालन करते हुए उसका जो कुछ परिणाम हो तथा प्रारब्धके अनुसार अपने-आप जो कुछ भी प्राप्त हो एवं जिस अवस्था और परिस्थितिमें रहनेका संयोग प्राप्त हो जाय, उसीमें संतुष्ट रहना और किसी प्रकारकी भी कामना या तृष्णा न करना 'संतोष' है।

(३) तप, (४) स्वाध्याय और (५) ईश्वर-प्रणिधान—इन तीनोंकी व्याख्या क्रियायोगके वर्णनमें कर चुके हैं (देखिये योग० २। १ की व्याख्या), उसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिये॥ ३२॥

***सम्बन्ध**—यम-नियमोंके अनुष्ठानमें विघ्न उपस्थित होनेपर उन विघ्नोंको हटानेका उपाय बतलाते हैं—*

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्॥ ३३॥

वितर्कबाधने=जब वितर्क (यम और नियमोंके विरोधी हिंसादिके भाव) यम-नियमके पालनमें बाधा पहुँचावें तब; **प्रतिपक्षभावनम्**=उनके प्रतिपक्षी विचारोंका बारम्बार चिन्तन करना (चाहिये)।

व्याख्या—जब कभी संगदोषसे या अन्यायपूर्वक किसीके द्वारा सताये जानेपर बदला लेनेके लिये या अन्य किसी भी कारणसे मनमें अहिंसादिके विरोधी भाव बाधा पहुँचावें अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी आदिमें प्रवृत्त होकर

यम-नियमादिका त्याग कर देनेकी परिस्थिति उत्पन्न कर दें तो उस समय उन विरोधी विचारोंका नाश करनेके लिये उन विचारोंमें दोषदर्शनरूप प्रतिपक्षकी भावना करनी चाहिये ॥ ३३ ॥

सम्बन्ध—*इस दोषदर्शनरूप प्रतिपक्षभावनाका ही अगले सूत्रोंमें वर्णन करते हैं—*

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोध-मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

हिंसादयः=(यम और नियमोंके विरोधी) हिंसा आदि भाव; **वितर्काः**=वितर्क कहलाते हैं; (वे तीन प्रकारके होते हैं—) **कृतकारितानुमोदिताः**=स्वयं किये हुए, दूसरोंसे करवाये हुए और अनुमोदन किये हुए; **लोभक्रोधमोह-पूर्वकाः**=इनके कारण लोभ, क्रोध और मोह हैं; **मृदुमध्याधिमात्राः**=इनमें भी कोई छोटा, कोई मध्यम और कोई बहुत बड़ा होता है; **दुःखाज्ञानानन्तफलाः**=ये दुःख और अज्ञानरूप अनन्त फल देनेवाले हैं; **इति**=इस प्रकार (विचार करना ही); **प्रतिपक्षभावनम्**=प्रतिपक्षकी भावना है।

व्याख्या—स्वयं किये हुए, दूसरोंसे करवाये हुए, दूसरोंको करते देखकर अनुमोदन किये हुए—इस तरह तीन प्रकारसे होनेवाले हिंसा, झूठ, चोरी और व्यभिचार आदि अवगुण, जो कि यम-नियमोंके विरोधी हैं, उनका नाम 'वितर्क' है। ये दोष कभी लोभसे, कभी क्रोधसे और कभी मोहसे एवं कभी छोटे रूपमें, कभी मध्यम और कभी भयंकररूपमें साधकके सामने उपस्थित होकर उसे सताते हैं। उस समय साधकको सावधान होकर विचार करना चाहिये कि ये हिंसादि दोष महान् हानिकारक और नरकमें ले जानेवाले हैं, इनका परिणाम अनन्तकालतक बारम्बार दुःख भोगना और अज्ञानके वशमें होकर शूकर-कूकर आदि मूढ़ योनियोंमें पड़ना है, अतः इनसे सर्वथा दूर रहकर दृढ़तापूर्वक यम-नियमोंका पालन करते रहना चाहिये। इस प्रकारके विचारोंको बारम्बार करते रहना ही 'प्रतिपक्षकी भावना' है॥ ३४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार यम-नियमोंके विरोधी हिंसादिको हटानेका उपाय उसमें दोष देखना बतलाकर अब यम-नियमोंमें प्रीति उत्पन्न करनेके लिये उनके पालनका भिन्न-भिन्न फल बतलाते हैं—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

अहिंसाप्रतिष्ठायाम्=अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर; **तत्सन्निधौ**=उस योगीके निकट; **वैरत्यागः**=सब प्राणी वैरका त्याग कर देते हैं।

व्याख्या—जब योगीका अहिंसाभाव पूर्णतया दृढ़ स्थिर हो जाता है तब उसके निकटवर्ती हिंसक जीव भी वैरभावसे रहित हो जाते हैं। इतिहास-ग्रन्थोंमें जहाँ मुनियोंके आश्रमोंकी शोभाका वर्णन आता है, वहाँ वनचर जीवोंमें स्वाभाविक वैरका अभाव दिखलाया गया है, यह उन ऋषियोंके अहिंसाभावकी प्रतिष्ठाका द्योतक है * ॥ ३५ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

---

* वाल्मीकीय रामायणवनकाण्डमें अगस्त्याश्रमके वर्णनमें आता है—

यदाप्रभृति चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा।
तदाप्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः॥
अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः।
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान् विनीतमृगसेवितः॥
नात्र जीवन्मृषावादी क्रूरो वा यदि वा शठः।
नृशंसः पापवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः॥
(सर्ग ११। ८३, ८६, ९०)

तुलसीकृत रामायणके अयोध्याकाण्डमें भी आया है—

ख़ग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥
(वाल्मीकि-आश्रमवर्णन)

तथा—

बयरु बिहाइ चरहिं एक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा॥
(चित्रकूटवर्णन)

****

सत्यप्रतिष्ठायाम्=सत्यकी दृढ़स्थिति हो जानेपर (योगीमें); **क्रिया-फलाश्रयत्वम्**=क्रियाफलके आश्रयका भाव (आ जाता है)।

व्याख्या—जब योगी सत्यका पालन करनेमें पूर्णतया परिपक्व हो जाता है, उसमें किसी प्रकारकी कमी नहीं रहती, उस समय वह योग कर्तव्यपालन-रूप क्रियाओंके फलका आश्रय बन जाता है। जो कर्म किसीने नहीं किया है, उसका भी फल उसे प्रदान कर देनेकी शक्ति उस योगीमें आ जाती है, अर्थात् जिसको जो वरदान, शाप या आशीर्वाद देता है, वह सत्य हो जाता है॥ ३६॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥ ३७॥

अस्तेयप्रतिष्ठायाम्=चोरीके अभावकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर (उस योगीके सामने); **सर्वरत्नोपस्थानम्**=सब प्रकारके रत्न प्रकट हो जाते हैं।

व्याख्या—जब साधकमें चोरीका अभाव पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाता है, तब पृथ्वीमें जहाँ कहीं भी गुप्त स्थानमें पड़े हुए समस्त रत्न उसके सामने प्रकट हो जाते हैं अर्थात् उसकी जानकारीमें आ जाते हैं॥ ३७॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥ ३८॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम्=ब्रह्मचर्यकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर; **वीर्यलाभः**=सामर्थ्यका लाभ होता है।

व्याख्या—जब साधकमें ब्रह्मचर्यकी पूर्णतया दृढ़ स्थिति हो जाती है, तब उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरमें अपूर्व शक्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है, साधारण मनुष्य किसी काममें भी उसकी बराबरी नहीं कर सकते॥ ३८॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः॥ ३९॥

अपरिग्रस्थैर्ये=अपरिग्रहकी स्थिति हो जानेपर; **जन्मकथन्तासंबोधः**=पूर्वजन्म कैसे हुए थे? इस बातका भलीभाँति ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—जब योगीमें अपरिग्रहका भाव पूर्णतया स्थिर हो जाता है,

तब उसे अपने पूर्वजन्मोंकी और वर्तमान जन्मकी सब बातें मालूम हो जाती हैं अर्थात् मैं पहले किस योनिमें हुआ था, मैंने उस समय क्या-क्या काम किये, किस प्रकार रहा—ये सब स्मरण हो जाते हैं और इस जन्मकी भी बीती हुई सब बातें स्मरण हो जाती हैं। यह ज्ञान भी संसारमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाला और जन्म-मरणसे छुटकारा पानेके लिये योगसाधनमें प्रवृत्त करनेवाला है।

यहाँतक यमोंकी सिद्धिका जो फल बतलाया गया है, उसके सिवा निष्कामभावसे यमोंका सेवन करनेसे कैवल्यकी प्राप्तिमें भी सहायता मिलती है॥ ३९॥

सम्बन्ध—*अब नियमोंके पालनका फल बतलाते हैं; परंतु इन सूत्रोंमें पूर्णप्रतिष्ठाकी शर्त नहीं रखी गयी है। इससे यह मालूम होता है कि साधक इनका जितना पालन करता है, उतना ही उसे लाभ मिलता चला जाता है। सबसे पहले अगले सूत्रमें बाह्य शौचका फल बतलाते हैं—*

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ ४०॥

शौचात्=शौचके पालनसे; **स्वाङ्गजुगुप्सा**=अपने अङ्गोंमें वैराग्य (और); **परैः असंसर्गः**=दूसरोंसे संसर्ग न करनेकी इच्छा (उत्पन्न होती है)।

व्याख्या—बाह्य शुद्धिके पालनसे साधककी अपने शरीरमें अपवित्र बुद्धि होकर उसमें वैराग्य हो जाता है अर्थात् उसमें आसक्ति नहीं रहती और दूसरे सांसारिक मनुष्योंके साथ संसर्ग करनेकी इच्छा नहीं रहती अर्थात् उनके सङ्गमें भी प्रवृत्ति या आसक्ति नहीं रहती॥ ४०॥

सम्बन्ध—*भीतरकी शुद्धिका फल बतलाते हैं—*

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥ ४१॥

च=इसके सिवा; **सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि**=अन्तःकरणकी शुद्धि, मनमें प्रसन्नता; चित्तकी एकाग्रता, इन्द्रियोंका वशमें होना और आत्मसाक्षात्कारकी योग्यता—ये पाँचों भी होते हैं।

****

व्याख्या—मैत्री आदिकी भावनाके द्वारा अथवा जप, तप आदि अन्य किसी साधनद्वारा आन्तरिक शौचके लिये अभ्यास करनेसे राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि मलोंका अभाव होकर मनुष्यका अन्तःकरण निर्मल और स्वच्छ हो जाता है। मनकी व्याकुलताका नाश होकर उसमें सदैव प्रसन्नता बनी रहती है; विक्षेप-दोषका नाश होकर एकाग्रता आ जाती है और सब इन्द्रियाँ मनके वशमें हो जाती हैं, अतः उसमें आत्मदर्शनकी योग्यता आ जाती है।

इस प्रकार इसके ऊपरवाले सूत्रमें तो बाह्य शौचका फल बतलाया गया है और इसमें भीतरकी शुद्धिका फल बतलाया गया है॥ ४१॥

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

संतोषात्=संतोषसे; **अनुत्तमसुखलाभः**=जिससे उत्तम दूसरा कोई सुख नहीं है—ऐसे सर्वोत्तम सुखका लाभ होता है।

व्याख्या—संतोषसे अर्थात् चाहरहित होनेपर जो अनन्त सुख मिलता है, उसकी बराबरी दूसरा कोई सांसारिक सुख नहीं कर सकता। वह ही सर्वोत्तम सुख है॥ ४२॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

तपसः=तपके प्रभावसे; **अशुद्धिक्षयात्**=जब अशुद्धिका नाश हो जाता है, तब; **कायेन्द्रियसिद्धिः**=शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि हो जाती है।

व्याख्या—स्वधर्म-पालनके लिये व्रत-उपवास आदि करने या अन्य सब प्रकारके कष्ट सहन करनेका नाम 'तप' है (योग० २। १ की टीका)। इसके अभ्याससे शरीर और इन्द्रियोंके मलका नाश हो जाता है, तब योगीका शरीर स्वस्थ, स्वच्छ और हलका हो जाता है तथा तीसरे पादके पैंतालीसवें और छियालीसवें सूत्रमें बतलायी हुई काय-सम्पद्रूप शरीर-सम्बन्धी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं एवं सूक्ष्म, दूर देशमें और व्यवधानयुक्त स्थानमें स्थित विषयोंको देखना, सुनना आदि इन्द्रियसम्बन्धी सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है॥ ४३॥

****

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

स्वाध्यायात्=स्वाध्यायसे; **इष्टदेवतासम्प्रयोगः**=इष्टदेवताकी भलीभाँति प्राप्ति (साक्षात्कार) हो जाती है।

व्याख्या—शास्त्राभ्यास, मन्त्रजप और अपने जीवनका अध्ययनरूप स्वाध्यायके प्रभावसे योगी जिस इष्टदेवका दर्शन करना चाहता है, उसीका दर्शन हो जाता है॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वरप्रणिधानात्=ईश्वर-प्रणिधानसे; **समाधिसिद्धिः**=समाधिकी सिद्धि हो जाती है।

व्याख्या—ईश्वरकी शरणागतिसे योगसाधनमें आनेवाले विघ्नोंका नाश होकर शीघ्र ही समाधि निष्पन्न हो जाती है (योग० १। २३), क्योंकि ईश्वरपर निर्भर रहनेवाला साधक तो केवल तत्परतासे साधन करता रहता है, उसे साधनके परिणामकी चिन्ता नहीं रहती। उसके साधनमें आनेवाले विघ्नोंको दूर करनेका और साधनकी सिद्धिका भार ईश्वरके जिम्मे पड़ जाता है, अतः साधनका अनायास और शीघ्र पूर्ण होना स्वाभाविक ही है॥ ४५ ॥

***सम्बन्ध**—यहाँतक यम और नियमोंका फलसहित वर्णन किया गया; अब आसनके लक्षण, उपाय और उसका फल क्रमसे बतलाते हैं—*

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

स्थिरसुखम्=निश्चल (हिलन-चलनसे रहित) सुखपूर्वक बैठनेका नाम; **आसनम्**='आसन' है।

व्याख्या—हठयोगमें आसनोंके बहुत भेद बतलाये गये हैं, परंतु यहाँ सूत्रकारने उनका वर्णन नहीं करके बैठनेका तरीका साधककी इच्छापर ही छोड़ दिया है। भाव यह है कि जो साधक अपनी योग्यताके अनुसार जिस रीतिसे बिना हिले-डुले स्थिरभावसे सुखपूर्वक बिना किसी प्रकारकी पीड़ाके बहुत समयतक बैठ सके वही आसन उसके लिये उपयुक्त है। इसके सिवा,

****

जिसपर बैठकर साधन किया जाता है, उसका नाम भी आसन है; अतः वह भी स्थिर और सुखपूर्वक बैठनेलायक होना चाहिये* ॥ ४६ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्=(उक्त आसन) प्रयत्नकी शिथिलता-से और अनन्त (परमात्मा) में मन लगानेसे (सिद्ध होता है)।

व्याख्या—शरीरको सीधा और स्थिर करके सुखपूर्वक बैठ जानेके बाद शरीर-सम्बन्धी सब प्रकारकी चेष्टाओंका त्याग कर देना ही प्रयत्नकी शिथिलता है, इससे और परमात्मामें मन लगानेसे—इन दो उपायोंसे आसनकी सिद्धि होती है।

यहाँ बहुत-से टीकाकारोंने अनन्तका अर्थ शेषनाग और समापत्तिका अर्थ समाधि किया है। भोजराजने अनन्तका अर्थ आकाशादि किया है और समापत्तिका अर्थ चित्तका तद्रूप हो जाना किया है; किंतु योगके अङ्गोंमें समाधि अन्तिम अङ्ग है, उसीके लिये आसन आदि अङ्गोंका अनुष्ठान है। आसनको समाधिका बहिरंग साधन भी बतलाया गया है। अतः किसी प्रकारकी भी समाधिको आसनकी स्थिरताका उपाय बतलाना युक्तिसंगत नहीं होता। सज्जन विद्वान् अनुभवी महानुभाव इसपर विचार करें॥ ४७॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

ततः=उस (आसनकी सिद्धि) से; **द्वन्द्वानभिघातः**=(शीत-उष्ण आदि) द्वन्द्वोंका आघात नहीं लगता।

---

* श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस आसनपर बैठकर योगाभ्यास करनेके लिये कहा है, उसे स्थिर और अचल स्थापन करनेके लिये कहा है और उसपर बैठनेका तरीका इस प्रकार बतलाया है कि शरीर, गला और सिर—ये तीनों सीधे और स्थिर रहें, वहाँ भी किसी विशेष आसनका नाम नहीं दिया है (देखिये गीता अध्याय ६, श्लोक ११ से १३ तक तथा श्वेता० उ० २।८, १०)।

****

व्याख्या—आसन-सिद्धि हो जानेसे शरीरपर सर्दी, गर्मी आदि द्वन्द्वोंका प्रभाव नहीं पड़ता, शरीरमें उन सबको बिना किसी प्रकारकी पीड़ाके सहन करनेकी शक्ति आ जाती है। अतः वे द्वन्द्व चित्तको चञ्चल बनाकर साधनमें विघ्न नहीं डाल सकते॥ ४८॥

सम्बन्ध—*अब प्राणायामका सामान्य लक्षण बतलाते हैं—*

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

तस्मिन् सति=उस आसनकी सिद्धि होनेके बाद; **श्वासप्रश्वासयोः**=श्वास और प्रश्वासकी; **गतिविच्छेदः**=गतिका रुक जाना; **प्राणायामः**=‘प्राणायाम’ है।

व्याख्या—प्राणवायुका शरीरमें प्रविष्ट होना श्वास है और बाहर निकलना प्रश्वास है। इन दोनोंकी गतिका रुक जाना अर्थात् प्राणवायुकी गमनागमनरूप क्रियाका बंद हो जाना ही प्राणायामका सामान्य लक्षण है।

यहाँ आसनकी सिद्धिके बाद प्राणायामका सम्पन्न होना बतलाया है। इसमें यह प्रतीत होता है कि आसनकी स्थिरताका अभ्यास किये बिना ही जो प्राणायाम करते हैं, वे गलत रास्तेपर हैं। प्राणायामका अभ्यास करते समय आसनकी स्थिरता परम आवश्यक है॥ ४९॥

सम्बन्ध—*उक्त प्राणायामके भेदोंको समझानेके लिये तीन प्रकारके प्राणायामोंका वर्णन करते हैं—*

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः=(उक्त प्राणायाम) बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति (ऐसे तीन प्रकारका) होता है, (तथा वह); **देशकालसंख्याभिः**=देश, काल और संख्याद्वारा; **परिदृष्टः**=भलीभाँति देखा जाता हुआ; **दीर्घसूक्ष्मः**=लम्बा और हलका (होता जाता है)।

व्याख्या—अगले सूत्रमें जिस प्राणायामके लक्षण किये गये हैं उसे

****

चौथा प्राणायाम बतलाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस सूत्रमें तीन प्रकारके प्राणायामोंका वर्णन है और उन तीनों प्रकारके ही प्राणायामोंको साधक देश, काल और संख्याद्वारा देखता रहता है कि वे किस अवस्थातक पहुँच चुके हैं। इस प्रकार परीक्षा करते-करते वे प्राणायाम जैसे-जैसे उन्नत होते जाते हैं वैसे-ही-वैसे उनमें लम्बाई और हलकापन बढ़ता चला जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्तम्भवृत्तिरूप तृतीय प्राणायाममें भी देशका सम्बन्ध रहता है, अन्यथा वह देश, काल और संख्याद्वारा परिदृष्ट कैसे होगा ? प्राणायामके तीन भेदोंको इस प्रकार समझना चाहिये।

(१) बाह्यवृत्ति—प्राणवायुको शरीरसे बाहर निकालकर बाहर ही जितने कालतक सुखपूर्वक रुक सके, रोके रहना और साथ-ही-साथ इस बातकी भी परीक्षा करते रहना कि वह बाहर आकर कहाँ ठहरा है, कितने समयतक ठहरा है और उतने समयमें स्वाभाविक प्राणकी गतिकी कितनी संख्या होती है। यह 'बाह्यवृत्ति' प्राणायाम है, इसे 'रेचक' भी कहते हैं; क्योंकि इसमें रेचनपूर्वक प्राणको रोका जाता है। अभ्यास करते-करते यह दीर्घ (लम्बा) अर्थात् बहुत कालतक रुके रहनेवाला और सूक्ष्म अर्थात् हलका अनायास साध्य हो जाता है।

(२) आभ्यन्तरवृत्ति—प्राणवायुको भीतर ले जाकर भीतर ही जितने कालतक सुखपूर्वक रुक सके, रोके रहना और साथ-ही-साथ यह देखते रहना कि आभ्यन्तर देशमें कहाँतक जाकर प्राण रुकता है; वहाँ कितने कालतक सुखपूर्वक ठहरता है और उतने समयमें प्राणकी स्वाभाविक गतिकी कितनी संख्या होती है। यह !'आभ्यन्तर' प्राणायाम है; इसे 'पूरक' प्राणायाम भी कहते हैं; क्योंकि इसमें शरीरके अंदर ले जाकर प्राणको रोका जाता है। अभ्यासबलसे यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है।

(३) स्तम्भवृत्ति—शरीरके भीतर जाने और बाहर निकलनेवाली जो प्राणोंकी स्वाभाविक गति है, उसे प्रयत्नपूर्वक बाहर या भीतर निकलने या ले

जानेका अभ्यास न करके प्राणवायु स्वभावसे बाहर निकला हो या भीतर गया हो, जहाँ हो, वहीं उसकी गतिको स्तम्भित कर देना (रोक देना) और यह देखते रहना कि प्राण किस देशमें रुके हैं, कितने समयतक सुखपूर्वक रुके रहते हैं, इस समयमें स्वाभाविक गतिकी कितनी संख्या होती है, यह 'स्तम्भवृत्ति' प्राणायाम है; इसे 'कुम्भक' प्राणायाम भी कहते हैं। अभ्यासबलसे यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता है। कोई-कोई टीकाकार इसे केवल 'कुम्भक' कहते हैं और कोई-कोई चौथे प्राणायामको केवल कुम्भक कहते हैं। इस तीसरे और अगले सूत्रमें बतलाये हुए चौथे प्राणायामके भेदका निर्णय करनेमें बहुत मतभेद है।

साधक किसी भी प्राणायामका अभ्यास करें, उसके साथ मन्त्र अवश्य रहना चाहिये ॥ ५० ॥

सम्बन्ध—चौथे प्राणायामका वर्णन करते हैं—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी=बाहर और भीतरके विषयोंका त्याग कर देनेसे अपने-आप होनेवाला; **चतुर्थः**=चौथा प्राणायाम है।

व्याख्या—बाहर और भीतरके विषयोंके चिन्तनका त्याग कर देनेसे अर्थात् इस समय प्राण बाहर निकल रहे हैं या भीतर जा रहे हैं अथवा चल रहे हैं कि ठहरे हुए हैं, इस जानकारीका त्याग करके मनको इष्टचिन्तनमें लगा देनेसे देश, काल और संख्याके ज्ञानके बिना ही अपने-आप जो प्राणोंकी गति जिस-किसी देशमें रुक जाती है; वह चौथा प्राणायाम है। यह पहले बतलाये हुए तीन प्रकारके प्राणायामोंसे सर्वथा भिन्न है, यह बात दिखलानेके लिये सूत्रमें 'चतुर्थः' पदका प्रयोग किया गया है।

यह अनायास होनेवाला राजयोगका प्राणायाम है। इसमें मनकी चञ्चलता शान्त होनेके कारण अपने-आप प्राणोंकी गति रुकती है और पहले बतलाये हुए प्राणायामोंमें प्रयत्नद्वारा प्राणोंकी गतिको रोकनेका अभ्यास करते-

****

करते प्राणोंकी गतिका निरोध होता है, यही इसकी विशेषता है॥ ५१ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

ततः=उस (प्राणायामके अभ्यास) से; **प्रकाशावरणम्**=प्रकाश (ज्ञान)का आवरण; **क्षीयते**=क्षीण हो जाता है।

व्याख्या—जैसे-जैसे मनुष्य प्राणायामका अभ्यास करता है, वैसे-ही-वैसे उसके संचित कर्म-संस्कार और अविद्यादि क्लेश दुर्बल होते चले जाते हैं। ये कर्म, संस्कार और अविद्यादि क्लेश ही ज्ञानका आवरण (परदा) है। इस परदेके कारण ही मनुष्यका ज्ञान ढका रहता है, अतः वह मोहित हुआ रहता है। जब यह परदा दुर्बल होते-होते सर्वथा क्षीण हो जाता है, तब साधकका ज्ञान सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो जाता है (गीता ५।१६)। इसलिये साधकको प्राणायामका अभ्यास अवश्य करना चाहिये॥ ५२ ॥

सम्बन्ध—*प्राणायामका दूसरा फल बतलाते हैं*—

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

च=तथा; **धारणासु**=धारणाओंमें; **मनसः**=मनकी; **योग्यता**=योग्यता (भी हो जाती है)।

व्याख्या—प्राणायामके अभ्याससे मनमें धारणाकी योग्यता भी आ जाती है, यानी उसे चाहे जिस जगह अनायास ही स्थिर किया जा सकता है॥ ५३ ॥

सम्बन्ध—*अब प्रत्याहारके लक्षण बतलाते हैं*—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

स्वविषयासम्प्रयोगे=अपने विषयोंके सम्बन्धसे रहित होनेपर; **इन्द्रियाणाम्**=इन्द्रियोंका; **चित्तस्वरूपानुकारः इव**=जो चित्तके स्वरूपमें तदाकार-सा हो जाना है, वह; **प्रत्याहारः**=प्रत्याहार है।

व्याख्या—उक्त प्रकारसे प्राणायामका अभ्यास करते-करते मन और इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाते हैं, उसके बाद इन्द्रियोंकी बाह्यवृत्तिको सब ओरसे समेटकर मनमें विलीन करनेके अभ्यासका नाम 'प्रत्याहार' है। जब साधनकालमें साधक इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करके चित्तको अपने ध्येयमें लगाता है, उस समय जो इन्द्रियोंका विषयोंकी ओर न जाकर चित्तमें विलीन-सा हो जाना है, यह प्रत्याहार सिद्ध होनेकी पहचान है। यदि उस समय भी इन्द्रियाँ पहलेके अभ्याससे इसके सामने बाह्य विषयोंका चित्र उपस्थित करती रहें तो समझना चाहिये कि प्रत्याहार नहीं हुआ। उपनिषदोंमें भी 'वाक्' शब्दसे उपलक्षित इन्द्रियोंको मनमें निरुद्ध करनेकी बात कहकर यही भाव दिखलाया है* ॥ ५४ ॥

सम्बन्ध—*अब प्रत्याहारका फल बतलाकर इस द्वितीय पादकी समाप्ति करते हैं*—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

ततः=उस (प्रत्याहार) से; **इन्द्रियाणाम्**=इन्द्रियोंकी; **परमा**=परम; **वश्यता**=वश्यता (हो जाती है)।

व्याख्या—प्रत्याहार सिद्ध हो जानेपर योगीकी इन्द्रियाँ उसके सर्वथा वशमें हो जाती हैं, उनकी स्वतन्त्रताका सर्वथा अभाव हो जाता है। प्रत्याहारकी सिद्धि हो जानेके बाद इन्द्रिय-विजयके लिये अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं रहती ॥ ५५ ॥

—★—

* यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः। (कठ० १।३।१३)

'बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह वाक् आदि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर मनमें विलीन कर दे अर्थात् इनकी ऐसी स्थिति कर दे कि इनकी कोई भी क्रिया न हो—मनमें विषयोंकी स्फुरणा न रहे।'

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

विभूतिपाद—३

सम्बन्ध—दूसरे पादमें योगाङ्गोंके वर्णनका आरम्भ करके यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—इन पाँच बहिरङ्ग-साधनोंका फलसहित वर्णन किया गया; शेष धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीन अन्तरङ्ग-साधनोंका वर्णन इस पादमें किया जाता है; क्योंकि ये तीनों जब किसी एक ध्येयमें पूर्णतया किये जाते हैं, तब इनका नाम संयम हो जाता है। योगकी विभूतियाँ प्राप्त करनेके लिये संयमकी आवश्यकता है, अतः इन अन्तरङ्ग-साधनोंका वर्णन साधनपादमें न करके इस विभूतिपादमें करते हुए पहले धारणाका स्वरूप बतलाते हैं—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

चित्तस्य देशबन्धः=(बाहर या शरीरके भीतर कहीं भी) किसी एक देशमें चित्तको ठहराना; **धारणा**=धारणा है।

व्याख्या—नाभिचक्र, हृदय-कमल आदि शरीरके भीतरी देश हैं और आकाश या सूर्य-चन्द्रमा आदि देवता या कोई भी मूर्ति तथा कोई भी पदार्थ बाहरके देश हैं, उनमेंसे किसी एक देशमें चित्तकी वृत्तिको लगानेका नाम 'धारणा' है ॥ १ ॥

सम्बन्ध—*ध्यानका स्वरूप बतलाते हैं—*

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

तत्र=(जहाँ चित्तको लगाया जाय) उसीमें; **प्रत्ययैकतानता**=वृत्तिका एकतार चलना, **ध्यानम्**=ध्यान है।

व्याख्या—जिस ध्येय वस्तुमें चित्तको लगाया जाय, उसीमें चित्तका एकाग्र हो जाना अर्थात् केवल ध्येयमात्रकी एक ही तरहकी वृत्तिका प्रवाह चलना, उसके बीचमें किसी भी दूसरी वृत्तिका न उठना 'ध्यान' है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—*समाधिका स्वरूप बतलाते हैं—*

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

अर्थमात्रनिर्भासम्=जब (ध्यानमें) केवल ध्येयमात्रकी ही प्रतीति होती है और; **स्वरूपशून्यमिव**=चित्तका निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब; **तदेव**=वही (ध्यान ही); **समाधिः**=समाधि हो जाता है।

व्याख्या—ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकारमें परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूपका अभाव-सा हो जाता है, उसको ध्येयसे भिन्न उपलब्धि नहीं होती, उस समय उस ध्यानका ही नाम 'समाधि' हो जाता है। यह लक्षण निर्वितर्क समापत्तिके नामसे पहले पादमें किया गया है (योग० १। ४३) ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—*उक्त तीनों साधनोंका सांकेतिक नाम बतलाते हैं—*

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

एकत्र=किसी एक ध्येय-विषयमें; **त्रयम्**=तीनोंका होना; **संयमः**=संयम है।

व्याख्या—किसी एक ध्येय पदार्थमें धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों होनेसे 'संयम' कहलाता है। अतः इस ग्रन्थमें जहाँ-तहाँ किसी विषयमें संयम करनेको कहा जाय या संयमका फल बतलाया जाय तो संयमके नामसे किसी एक ध्येयमें तीनोंका होना समझ लेना चाहिये ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—*संयमकी सिद्धिका फल बतलाते हैं—*

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

तज्जयात्=उसको जीत लेनेसे; **प्रज्ञालोकः**=बुद्धिका प्रकाश होता है।

व्याख्या—साधन करते-करते जब योगी संयमपर विजय प्राप्त कर लेता है, अर्थात् चित्तमें ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है कि जिस विषयमें वह संयम करना चाहे, उसीमें तत्काल संयम हो जाता है, उस समय योगीकी बुद्धिका प्रकाश प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसकी बुद्धिमें अलौकिक ज्ञानशक्ति आ जाती है। इसीको प्रथम पादमें अध्यात्मप्रसादके और ऋतम्भरा प्रज्ञाके नामसे कहा है (योग० १। ४७-४८) ॥ ५ ॥

****

सम्बन्ध—*संयमके प्रयोगकी विधिका वर्णन करते हैं—*

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

तस्य=उस (संयम) का (क्रमसे); **भूमिषु**=भूमियोंमें; **विनियोगः**=विनियोग (करना चाहिये)।

व्याख्या—संयमका प्रयोग क्रमसे करना चाहिये अर्थात् पहले स्थूल विषयमें संयम करना चाहिये। वह स्थिर हो जानेपर सूक्ष्म विषयोंमें क्रमसे संयम करना चाहिये। इसी प्रकार जिस-जिस स्थलमें संयम स्थिर होता जाय, उस-उससे आगे बढ़ते रहना चाहिये॥ ६ ॥

सम्बन्ध—*उक्त तीनों साधनोंकी विशेषता बतलाते हैं—*

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

पूर्वेभ्यः=पहले कहे हुओंकी अपेक्षा; **त्रयम्**=ये तीनों (साधन); **अन्तरङ्गम्**=अन्तरङ्ग हैं।

व्याख्या—इसके पहले अर्थात् दूसरे पादमें जो योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—ये पाँच अङ्ग बतलाये गये हैं, उनकी अपेक्षा उपर्युक्त धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों साधन अन्तरङ्ग हैं; क्योंकि इन तीनोंका योग-सिद्धिके साथ निकटतम सम्बन्ध है॥ ७ ॥

सम्बन्ध—*निर्बीज समाधिकी विशेषताका वर्णन करते हैं—*

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

तदपि=वे (ऊपर कहे हुए धारणा आदि तीनों) भी; **निर्बीजस्य**=निर्बीज समाधिके; **बहिरङ्गम्**=बहिरङ्ग (साधन) हैं।

व्याख्या—पर-वैराग्यकी दृढ़तासे जब समाधिप्रज्ञाके संस्कारोंका भी निरोध हो जाता है, तब निर्बीज समाधि सिद्ध होती है (योग० १।५१)। अतः धारणा, ध्यान और समाधि भी उसके अन्तरङ्ग साधन नहीं हो सकते; क्योंकि उसमें सब प्रकारकी वृत्तियोंका अभाव किया जाता है (योग० १।१८);

****

किसी भी ध्येयमें चित्तको स्थिर करनेका अभ्यास नहीं किया जाता ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—*गुणोंका स्वभाव चञ्चल है, उनमें प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है। चित्त गुणोंका ही कार्य है, अतः वह भी कभी एक अवस्थामें नहीं रह सकता। अतः निरोध-समाधिके समय उसका कैसा परिणाम होता है, यह बतलानेके लिये कहते हैं—*

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण-चित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः अभिभवप्रादुर्भावौ=व्युत्थान-अवस्थाके संस्कारोंका दब जाना और निरोध-अवस्थाके संस्कारोंका प्रकट हो जाना—यह; **निरोधक्षणचित्तान्वयः**=निरोधकालमें चित्तका निरोध-संस्कारानुगत होना; **निरोधपरिणामः**=निरोधपरिणाम है।

व्याख्या—निरोधसमाधिमें चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका अभाव हो जानेपर भी उनके संस्कारोंका नाश नहीं होता। उस कालमें केवल संस्कार ही शेष रहते हैं, यह बात पहले पादमें कही है (योग० १। १८)। अतः निरोधकालमें चित्त व्युत्थान और निरोध दोनों ही प्रकारके संस्कारमें व्याप्त रहता है, क्योंकि चित्त धर्मी है और संस्कार उसके धर्म हैं; धर्मी अपने धर्ममें सदैव व्याप्त रहता है यह नियम है (योग० ३। १४)। उस निरोधकालमें जो व्युत्थानके संस्कारोंका दब जाना और निरोधसंस्कारोंका प्रकट हो जाना है तथा चित्तका निरोध-संस्कारोंसे सम्बन्धित हो जाना है, यह व्युत्थानधर्मसे निरोधधर्ममें परिणत होनारूप निरोध-परिणाम है।* निरोध-समाधिकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात-समाधि

---

* यहाँ समाधि-परिणाम और एकाग्रता-परिणामके लक्षण पहले न करके पहले निरोध-परिणामका स्वरूप बतलाया है। इसका यह कारण मालूम होता है कि आठवें सूत्रमें निरोधसमाधिका वर्णन आ गया। इसलिये पहले निरोध-परिणामका लक्षण बतलाना आवश्यक हो गया; क्योंकि पहले (योग० १। ५१ में) निरोध-समाधिका लक्षण करते हुए सब वृत्तियोंके निरोधसे निर्बीज-समाधिका होना बतलाया है। अतः उसमें परिणाम न होनेकी धारणा स्वाभाविक हो जाती है; परन्तु जबतक चित्तकी गुणोंसे भिन्न सत्ता रहती है,

****

भी व्युत्थान-अवस्था ही है (योग० ३।८)। अतः उसके संस्कारोंको यहाँ व्युत्थान-संस्कारोंके ही अन्तर्गत समझना चाहिये ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—*इसके बाद क्या होता है, सो बतलाते हैं—*

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

संस्कारात्=संस्कारबलसे; **तस्य**=उस (चित्त) की; **प्रशान्तवाहिता**= प्रशान्तवाहिता (स्थिति) होती है।

व्याख्या—'पहले सूत्रके कथनानुसार जब व्युत्थानके संस्कार सर्वथा दब जाते हैं और निरोधके संस्कार बढ़कर भरपूर हो जाते हैं, उस समय उस संस्कारमात्र शेष चित्तमें निरोध-संस्कारोंकी अधिकतासे केवल निर्मल निरोध-संस्कारधारा चलती रहती है अर्थात् केवल निरोध-संस्कारोंका ही प्रवाह चलता रहता है। यह निरुद्ध चित्तका अवस्था-परिणाम है ॥ १० ॥

सम्बन्ध—*अब सम्प्रज्ञात-समाधिमें चित्तका जैसा परिणाम होता है, उसका वर्णन करते हैं—*

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ=सब प्रकारके विषयोंका चिन्तन करनेकी वृत्तिका क्षय हो जाना और किसी एक ही ध्येय विषयको चिन्तन करनेवाली एकाग्रता-अवस्थाका उदय हो जाना—यह; **चित्तस्य**=चित्तका; **समाधि-परिणामः**=समाधि-परिणाम है।

व्याख्या—निरोध-समाधिके पहले जब योगीका सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है, उस समय चित्तकी विक्षिप्तावस्थाका क्षय होकर एकाग्र-अवस्थाका उदय हो जाता है। निर्वितर्क और निर्विचार सम्प्रज्ञात-समाधिमें केवल ध्येयमात्रका ही ज्ञान रहता है, चित्तके निज स्वरूपतकका भान नहीं रहता

वह अपने कारणमें विलीन नहीं हो जाता, तबतक उसमें परिणामी होना अनिवार्य है। इसलिये निरोध-परिणाम किस प्रकार होता है, यह जाननेकी इच्छा स्वाभाविक हो जाती है।

(योग० १।४३); वह चित्तका विक्षिप्तावस्थासे एकाग्र-अवस्थामें परिणत हो जानारूप समाधि-परिणाम है॥ ११॥

सम्बन्ध—*उसके बादकी स्थितिका वर्णन करते हैं।*

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः॥ १२॥

ततः=उसके बाद; **पुनः**=फिर जब; **शान्तोदितौ**=शान्त होनेवाली और उदय होनेवाली; **तुल्यप्रत्ययौ**=दोनों ही वृत्तियाँ एक-सी हो जाती हैं, तब वह; **चित्तस्य**=चित्तका; **एकाग्रतापरिणामः**=एकाग्रता-परिणाम है।

व्याख्या—जब चित्त विक्षिप्त-अवस्थासे एकाग्र-अवस्थामें प्रवेश करता है, उस समय चित्तका जो परिणाम होता है उसका नाम समाधि-परिणाम है। जब चित्त भलीभाँति समाहित हो चुकता है, उसके बाद जो चित्तमें परिणाम होता रहता है, उसे एकाग्रता-परिणाम कहते हैं। उसमें शान्त होनेवाली वृत्ति और उदय होनेवाली वृत्ति एक-सी ही होती है।

पहले कहे हुए समाधि-परिणाममें तो शान्त होनेवाली और उदय होनेवाली वृत्तिमें भेद होता है, किन्तु इसमें शान्त होनेवाली और उदय होनेवाली वृत्तिमें भेद नहीं होता, यही समाधि-परिणाममें और एकाग्रता-परिणाममें अन्तर है। सम्प्रज्ञात-समाधिकी प्रथम अवस्थामें समाधि-परिणाम होता है और उसकी परिपक्व-अवस्थामें एकाग्रता-परिणाम होता है। इस एकाग्रता-परिणामके समय होनेवाली स्थितिको ही पहले पादमें निर्विचार-समाधिकी निर्मलताके नामसे कहा है (योग० १।४७)॥ १२॥

सम्बन्ध—*उपर्युक्त परिणामोंके नाम बतलाते हुए उनके उदाहरणसे अन्य समस्त वस्तुओंमें होनेवाले परिणामोंकी व्याख्या करते हैं—*

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः॥ १३॥

****

एतेन=(ऊपर जो चित्तके परिणाम बतला चुके हैं) इसीसे; **भूतेन्द्रियेषु**=पाँचों भूतोंमें और सब इन्द्रियोंमें होनेवाले; **धर्मलक्षणावस्था-परिणामाः**=धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम—(ये तीनों परिणाम); **व्याख्याताः**=कहे जा चुके।

व्याख्या—पहले नवें और दसवें सूत्रमें तो निरोध-समाधिके समय होनेवाले चित्तके धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणामका वर्णन किया गया है तथा ग्यारहवें और बारहवें सूत्रमें सम्प्रज्ञात-समाधिके समय होनेवाले चित्तके धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणामका वर्णन किया गया है। इसी तरह संसारकी समस्त वस्तुओंमें ये परिणाम बराबर होते रहते हैं; क्योंकि तीनों ही गुण परिणामी हैं, अतः उनके कार्योंमें परिवर्तन होते रहना अनिवार्य है। इसलिये इस सूत्रमें यह बात कही गयी है कि ऊपरके वर्णनसे ही पाँचों भूतोंमें और समस्त इन्द्रियोंमें होनेवाले धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणामोंको समझ लेना चाहिये। इनका भेद उदाहरणसहित समझाया जाता है।

यह ध्यानमें रखना चाहिये कि सांख्य और योगके सिद्धान्तमें कोई भी पदार्थ बिना हुए उत्पन्न नहीं होता। जो कुछ वस्तु उत्पन्न होती है, वह उत्पन्न होनेसे पहले भी अपने कारणमें विद्यमान थी और लुप्त होनेके बाद भी विद्यमान है (योग० ४। १२)।

(१) धर्म-परिणाम—जब किसी धर्मीमें एक धर्मका लय होकर दूसरे धर्मका उदय होता है, उसे 'धर्म-परिणाम' कहते हैं। जैसे नवें सूत्रमें चित्तरूप धर्मीके व्युत्थानसंस्काररूप धर्मका दब जाना और निरोधसंस्काररूप धर्मका प्रकट होना बतलाया गया है। यही धर्मोंमें विद्यमान रहनेवाले चित्तरूप धर्मीका धर्म-परिणाम है। इसी प्रकार ग्यारहवें सूत्रमें जो सर्वार्थतारूप धर्मका क्षय और एकाग्रतारूप धर्मका उदय बतलाया गया है, यह भी चित्तरूप धर्मीका धर्म-परिणाम है। इसी तरह मिट्टीमें पिण्डरूप धर्मका क्षय और घटरूप धर्मका

उदय होना, फिर घटरूप धर्मका क्षय और ठीकरी (फूटे हुए घटके टुकड़े) रूप धर्मका उदय होना—सब प्रकारके धर्मोंमें विद्यमान रहनेवाले मिट्टीरूप धर्मीका धर्म-परिणाम है। इसी तरह अन्य समस्त वस्तुओंमें भी समझ लेना चाहिये।

(२) लक्षण-परिणाम—यह परिणाम भी धर्म-परिणामके साथ-साथ हो जाता है। यह लक्षण-परिणाम धर्ममें होता है (योग० ४। १२)। वर्तमान धर्मका लुप्त हो जाना उसका अतीत लक्षण-परिणाम है, अनागत धर्मका प्रकट होना उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है और प्रकट होनेसे पहले वह अनागत लक्षणवाला रहता है। इन तीनोंको धर्मका 'लक्षण-परिणाम' कहते हैं। ग्यारहवें सूत्रमें जो चित्तके सर्वार्थता-धर्मका क्षय होना बतलाया गया है, वह उसका अतीत लक्षण-परिणाम है और जो एकाग्रतारूप धर्मका उदय होना बतलाया है, वह उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। उदय होनेसे पहले वह अनागत लक्षण-परिणाममें था। इसी प्रकार दूसरी वस्तुओंके परिणामोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

(३) अवस्था-परिणाम—जो वर्तमान लक्षणयुक्त धर्ममें नयापनसे पुरानापन आता-जाता है, वह प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है और वर्तमान लक्षणको छोड़कर अतीत लक्षणमें चला जाता है, यह लक्षणका 'अवस्था-परिणाम' है। एकादश सूत्रके वर्णनानुसार जब चित्तरूप धर्मीका वर्तमान लक्षणवाला सर्वार्थतारूप धर्म दबकर अतीत लक्षणको प्राप्त होता है, उस वर्तमान कालमें जो उसके दबनेका क्रम है वह उसका अवस्था-परिणाम है और जो एकाग्रतारूप धर्म अनागत लक्षणसे वर्तमान लक्षणमें आता है तब उसका जो उदय होनेका क्रम है, वह भी अवस्था-परिणाम है। दसवें सूत्रमें निरुद्ध चित्तके अवस्था-परिणामका और बारहवेंमें एकाग्रचित्तके अवस्था-परिणामका वर्णन है। इस प्रकार यह एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थामें परिवर्तन होते जाना ही अवस्था-परिणाम है। यह अवस्था-परिणाम

प्रतिक्षण होता रहता है। कोई भी त्रिगुणमय वस्तु क्षणभर भी एक अवस्थामें नहीं रहती। यही बात दसवें और बारहवें सूत्रोंमें निरोधधर्मके और एकाग्रधर्मके वर्तमान लक्षण-परिणाममें एक प्रकारके संस्कार और वृत्तियोंका क्षय और उदय बतलाकर दिखलायी गयी है। हम बालकसे जवान और जवानसे बूढ़े किसी एक दिनमें या एक घड़ीमें नहीं हुए, हमारा यह अवस्था-परिणाम अर्थात् अवस्थाका परिवर्तन प्रतिक्षणमें होता हुआ ही यहाँतक पहुँचा है। इसीको अवस्था-परिणाम कहते हैं। यह परिणाम विचारद्वारा समझमें आता है, सहसा प्रतीत नहीं होता। आगे कहेंगे भी कि क्रमका ज्ञान परिणामके अवसानमें होता है (योग० ४। ३३)।

धर्मपरिणाममें तो धर्मीके धर्मका परिवर्तन होता है, लक्षण-परिणाममें पहले धर्मका अतीत हो जाना और नये धर्मका वर्तमान हो जाना—इस प्रकार धर्मका लक्षण बदलता है और अवस्था-परिणाममें धर्मके वर्तमान लक्षणसे युक्त रहते हुए ही उसकी अवस्था बदलती रहती है। पहले परिणामकी अपेक्षा दूसरा सूक्ष्म है और दूसरेकी अपेक्षा तीसरा सूक्ष्म है॥ १३॥

सम्बन्ध—*धर्म और धर्मीका विवेचन करनेके लिये धर्मीका स्वरूप बतलाते हैं*—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती=अतीत, वर्तमान और आनेवाले धर्मोंमें जो अनुगत (व्याप्त) रहता (आधाररूपमें विद्यमान रहता है) वह; **धर्मी**=धर्मी है।

व्याख्या—द्रव्यमें सदा विद्यमान रहनेवाली अनेकों शक्तियोंका नाम धर्म है और उसके आधारभूत द्रव्यका नाम धर्मी है। भाव यह है कि जिस कारणरूप पदार्थसे जो कुछ बन चुका है, जो बना हुआ है और जो बन सकता है; वे सब उसके धर्म हैं, वे एक धर्मीमें अनेक रहते हैं तथा अपने-अपने निमित्तोंके मिलनेपर प्रकट और शान्त होते रहते हैं। उनके तीन भेद इस प्रकार हैं—

(१) अव्यपदेश्य—जो धर्म धर्मीमें शक्तिरूपसे विद्यमान रहते हैं,

व्यवहारमें आने लायक न होनेके कारण जिनका निर्देश नहीं किया जा सकता, वे 'अव्यपदेश्य' कहलाते हैं। इन्हींको अनागत या आनेवाले भी कहते हैं। जैसे जलमें बर्फ और मिट्टीमें बर्तन अपना व्यापार करनेके लिये प्रकट होनेसे पहले शक्तिरूपमें छिपे रहते हैं।

(२) उदित—जो धर्म पहले शक्तिरूपसे धर्मीमें छिपे हुए थे, वे जब अपना कार्य करनेके लिये प्रकट हो जाते हैं, तब 'उदित' कहलाते हैं। इन्हींको 'वर्तमान' भी कहते हैं। जैसे जलमें शक्तिरूपसे विद्यमान बर्फका प्रकट होकर वर्तमानरूपमें आ जाना, मिट्टीमें शक्तिरूपसे विद्यमान बर्तनोंका प्रकट होकर वर्तमानरूपमें आ जाना।

(३) जो धर्म अपना व्यापार पूरा करके धर्मीमें विलीन हो जाते हैं, वे 'शान्त' कहलाते हैं, इन्हींको 'अतीत' भी कहते हैं। जैसे बर्फका गलकर जलमें विलीन हो जाना और घड़ेका फूटकर मिट्टीमें विलीन हो जाना।

धर्मोंकी शान्त, उदित और अव्यपदेश्य—इन तीनों स्थितियोंमें ही धर्मी सदा ही अनुगत रहता है। किसी कालमें धर्मीके बिना धर्म नहीं रहते ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—*एक ही धर्मीके भिन्न-भिन्न अनेक धर्म-परिणाम कैसे होते हैं, यह बतलाते हैं*—

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

परिणामान्यत्वे=परिणामकी भिन्नतामें; **क्रमान्यत्वम्**=क्रमकी भिन्नता; **हेतुः**=कारण है।

व्याख्या—एक ही द्रव्यका किसी एक क्रमसे जो परिणाम होता है, दूसरे क्रमसे उससे भिन्न दूसरा ही परिणाम होता है। अन्य प्रकारके क्रमसे तीसरा ही परिणाम होता है। जैसे हमें रूईसे वस्त्र बनाना है तो पहले रूईको धुनकर उसकी पूनी बनाकर चरखेपर कातकर उसका सूत बनाना पड़ेगा, फिर उस सूतका लम्बा ताना करेंगे, फिर उसे तानेमेंसे पार करके रोलपर चढ़ायेंगे, फिर 'वै' मेंसे पार करके उसके आधे तन्तुओंको ऊपर उठायेंगे, आधोंको नीचे ले

जायँगे और बीचमें भरनीका सूत फेंककर उस धागेको यथास्थान बैठायेंगे, फिर ऊपरवाले धागोंको नीचे लायेंगे और नीचेवालोंको ऊपर ले जायँगे, इस तरह क्रमसे करते रहनेपर अन्तमें वस्त्ररूपमें रूईका परिणाम होगा। पर यदि हमें उसी रूईसे दीपककी बत्ती बनानी है तो उसे कुछ फैलाकर थोड़ा बट दे देनेसे तुरंत बन जायगी और यदि कुएँमेंसे जल निकालनेकी रस्सी बनानी है तो पहले सूत बनाकर उन धागोंको तीन या चार भागोंमें लम्बा करके बट लगानेसे रस्सी बन जायगी। इनमें भी जैसा वस्त्र या जैसी बत्ती या जिस प्रकारकी रस्सी बनानी है वैसे ही उनमें क्रमका भेद करना पड़ेगा। इसी तरह दूसरी वस्तुओंमें भी समझ लेना चाहिये।

इससे यह सिद्ध हो गया कि क्रममें परिवर्तन करनेसे एक ही धर्मी भिन्न-भिन्न नाम-रूपवाले धर्मोंसे युक्त हो जाता है, उसके परिणामकी भिन्नताका कारण क्रमकी भिन्नता ही है, दूसरा कुछ नहीं। क्रमकी भिन्नता सहकारी कारणोंके सम्बन्धसे होती है। जैसे ठंडके सम्बन्धसे जलमें बर्फरूप धर्मके प्रकट होनेका क्रम चलता और गर्मीके संयोगसे स्टीम (भाप) बननेका क्रम आरम्भ हो जाता है॥ १५॥

***सम्बन्ध*—उक्त संयम किस ध्येय-वस्तुमें सिद्ध कर लेनेपर उससे क्या फल मिलता है; इसका वर्णन यहाँसे इस पादकी समाप्तिपर्यन्त किया गया है। इनको ही योगकी 'विभूति' अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकारका महत्त्व कहते हैं। (इन सबको समझकर योगीको चाहिये कि अपने लिये जो सबसे बढ़कर फल मालूम पड़े, उसे चुन ले।)*

ऊपर तीन प्रकारके परिणामोंका वर्णन किया गया, अतः पहले इनमें संयम करनेका फल बतलाते हैं—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्॥ १६॥

परिणामत्रयसंयमात्=(उक्त) तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे; **अतीतानागतज्ञानम्**=अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य—होनहार) का ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम—इस प्रकार जिन तीन परिणामोंका पहले वर्णन किया गया है, उन तीनों परिणामोंमें संयम अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि कर लेनेसे योगीको उनका साक्षात्कार होकर भूत और भविष्यका ज्ञान हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जिस वर्तमान वस्तुके विषयमें योगी यह जानना चाहे कि इसका मूल कारण क्या है और यह किस ढंगसे बदलती हुई कितने कालमें वर्तमान रूपमें आयी है और भविष्यमें किस प्रकार बदलती हुई कितने कालमें किस प्रकार अपने कारणमें विलीन होगी ? तो ये सब बातें उक्त तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे जान सकता है॥ १६॥

सम्बन्ध—*इसी प्रकार अब दूसरी विभूतियोंका वर्णन करते हैं*—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभाग-संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्॥ १७॥

शब्दार्थप्रत्ययानाम्=शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंका; **इतरेतरा-ध्यासात्**=जो एकमें दूसरेका अध्यास हो जानेके कारण; **संकरः**=मिश्रण हो रहा है; **तत्प्रविभागसंयमात्**=उसके विभागमें संयम करनेसे; **सर्वभूतरुत-ज्ञानम्**=सम्पूर्ण प्राणियोंकी वाणीका ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—वस्तुके नाम, रूप और ज्ञान—यह तीनों यद्यपि परस्पर भिन्न हैं, जैसे 'घट' यह शब्द मिट्टीसे बने हुए जिस पदार्थका संकेत करता है, उस पदार्थसे सर्वथा भिन्न वस्तु है। इसी प्रकार उस घटरूप पदार्थकी जो प्रतीति होती है, वह चित्तकी वृत्तिविशेष है। अतः वह भी घटरूप पदार्थसे सर्वथा भिन्न वस्तु है, क्योंकि शब्द वाणीका धर्म है, घटरूप पदार्थ मिट्टीका धर्म है और वृत्ति चित्तका धर्म है तथापि तीनोंका परस्पर अभ्यासके कारण मिश्रण हुआ रहता है। अतः जब योगी विचारद्वारा इनके विभागको समझकर उस विभागमें संयम कर लेता है, तब उसको समस्त प्राणियोंकी

वाणीके अर्थका ज्ञान हो जाता है * ॥ १७ ॥

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

संस्कारसाक्षात्करणात्=(संयमद्वारा) संस्कारोंका साक्षात् कर लेनेसे; **पूर्वजातिज्ञानम्**=पूर्वजन्मका ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—प्राणी जो कुछ कर्म करता है एवं अपने इन्द्रियों और मन-बुद्धिद्वारा जो कुछ अनुभव करता है, वे सब उसके अन्तःकरणमें संस्काररूपमें संचित रहते हैं। उक्त संस्कार दो प्रकारके होते हैं—एक वासनारूप, जो कि स्मृतिके कारण हैं, दूसरे धर्माधर्मरूप जो कि जाति, आयु और भोगके कारण हैं—ये दोनों ही प्रकारके संस्कार अनेक जन्म-जन्मान्तरोंसे संगृहीत होते आ रहे हैं (योग० २। १२, ४। ८ से ११)। उन संस्कारोंमें संयम करके उनको प्रत्यक्ष कर लेनेसे योगीको पूर्वजन्मका ज्ञान हो जाता है। जैसे अपने पूर्व संस्कारोंके साक्षात्कारसे अपने पूर्वजन्मका ज्ञान होता है, उसी प्रकार दूसरेके संस्कारोंमें संयम करनेसे उसके पूर्वजन्मका भी ज्ञान हो सकता है ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

प्रत्ययस्य=दूसरेके चित्तका (संयमद्वारा साक्षात्कार कर लेनेसे); **परचित्तज्ञानम्**=दूसरेके चित्तका ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—श्रीविज्ञानभिक्षुका अर्थ है कि संयमद्वारा अपने चित्तकी वृत्तिका साक्षात्कार कर लेनेसे योगी संकल्पमात्रसे ही दूसरेके चित्तको जान

---

* सूत्रकारने जिस संयमका जो फल बतलाया है, उसका अनुवादमात्र मैंने कर दिया है। उस संयमका वह फल कैसे होता है और क्यों होता है—यह मेरी समझके बाहरकी बात है; क्योंकि मैं योगी नहीं हूँ और मैंने कभी किसी संयमको सिद्ध करके उसका फल प्राप्त भी नहीं किया है। इस परिस्थितिमें उसके विषयमें कुछ भी लिखना मेरी समझमें उचित नहीं है।

लेता है कि यह कुछ चिन्तन करनेमें लग रहा है या नहीं, इस समय यह प्रक्षिप्त है या मूढ़ है या प्रशान्त है इत्यादि। किंतु दूसरे टीकाकारोंने यह अर्थ स्वीकार नहीं किया है।

इस ग्रन्थमें प्रायः चित्तकी वृत्तिविशेषको या ज्ञानको ही प्रत्यय नामसे कहा गया है। किंतु यहाँ दूसरे टीकाकारोंने प्रत्ययका अर्थ चित्तवृत्ति न लेकर चित्त लिया है; क्योंकि इस सूत्रमें उसके साक्षात्कारका फल चित्तका ज्ञान कहा है और अगले सूत्रमें वृत्तिसहित ज्ञानका निषेध किया है तथा इस सूत्रमें यह स्पष्ट नहीं है कि किसके चित्तसाक्षात्कारका यह फल बतलाया गया है। किंतु फलमें 'पर' शब्दका प्रयोग देखकर साक्षात्कार भी दूसरेके ही चित्तका माना है। वास्तवमें क्या बात है, ठीक समझमें नहीं आती॥ १९॥

सम्बन्ध—*उसीको स्पष्ट करते हैं—*

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥ २०॥

च=किंतु; **तत्**=वह ज्ञान; **सालम्बनम्**=आलम्बनसहित; **न**=नहीं होता; **तस्य अविषयीभूतत्वात्**=क्योंकि (वैसा चित्त) योगीके चित्तका विषय नहीं है।

व्याख्या—चित्तके साक्षात्कारसे योगीको जो दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है, वह केवल चित्तके स्वरूपमात्रका ही होता है, उस चित्तके सालम्बनका यानी उसका चित्त जिस वस्तुका चिन्तन कर रहा है, उसका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि योगीके चित्तका विषय दूसरेका चित्त है, उसका आलम्बन नहीं॥ २०॥

सम्बन्ध—*अब दूसरी सिद्धिका वर्णन करते हैं—*

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्॥ २१॥

कायरूपसंयमात्=शरीरके रूपमें संयम कर लेनेसे; **तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे**=जब उसकी ग्राह्यशक्ति रोक ली जाती है, तब; **चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगे**=चक्षुके प्रकाशका उसके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण; **अन्तर्धानम्**=योगी अन्तर्धान हो जाता है।

****

व्याख्या—जब योगी अपने शरीरके रूपमें संयम कर लेता है; तब वह दूसरेके देखनेमें आनेवाली शरीरकी दृश्यताशक्तिका संकल्पमात्रसे अवरोध कर सकता है; उसका अवरोध कर लेनेपर दूसरोंके नेत्रोंकी प्रकाशनशक्तिसे उसका सम्बन्ध नहीं होता, इस कारण उसे कोई नहीं देख सकता। इसका नाम अन्तर्धान है।

इसी तरह यदि योगी शब्दमें संयम कर लेता है तो उसके शब्दको कोई नहीं सुन सकता। यदि शरीरके स्पर्शमें संयम कर लेता है, तो उसे कोई छू नहीं सकता—इत्यादि सिद्धियाँ भी उपलक्षणसे समझ लेनी चाहिये॥ २१॥

सम्बन्ध—*अन्य सिद्धिका वर्णन करते हैं*—

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञान-मरिष्टेभ्यो वा॥ २२॥

सोपक्रमम्=उपक्रमसहित; **च**=और; **निरुपक्रमम्**=उपक्रमरहित—ऐसे दो प्रकारके; **कर्म**=कर्म होते हैं; **तत्संयमात्**=उनका संयम कर लेनेसे (योगीको); **अपरान्तज्ञानम्**=मृत्युका ज्ञान हो जाता है; **वा**=अथवा; **अरिष्टेभ्यः**=अरिष्टोंसे भी (मृत्युका ज्ञान हो जाता है)।

व्याख्या—जिन कर्मोंके फलस्वरूप मनुष्यकी आयुका निर्माण होता है, वे दो प्रकारके होते हैं—(१) सोपक्रम—जिनके फलका आरम्भ हो चुका है, जो कि अपना फल देनेमें लगे हुए हैं। (२) निरुपक्रम—जिसके फल-भोगका आरम्भ नहीं हुआ है। इन दोनों प्रकारके कर्मोंमें संयम करके जब मनुष्य इनको इस तरह प्रत्यक्ष कर लेता है कि कौन-कौन-से कर्म कितने अंशमें अपना फल दे चुके हैं और कौन-से कर्मोंका कितना फल-भोग बाकी है और इनकी गतिके हिसाबसे कितने कालमें दोनों प्रकारके समस्त कर्मोंकी समाप्ति हो जायगी, तब उसे अपनी मृत्युका अर्थात् शरीरनाशके समयका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है।

इसके सिवा, अरिष्टोंसे अर्थात् बुरे चिह्नोंसे भी मृत्युका ज्ञान हो जाता है,

परंतु यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, अनुमान-ज्ञान है ॥ २२ ॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

मैत्री आदिषु=मैत्री आदि भावनाओंमें (संयम करनेसे) (मैत्री आदि विषयक); **बलानि**=बल मिलते हैं।

व्याख्या—पहले (योग० १ । ३३ से) मैत्री, करुणा और मुदिता—इन तीन प्रकारकी भावनाओंका वर्णन है। चौथी जो उपेक्षा है, वह भावना नहीं है, भावनाका त्याग है। उनमेंसे पहली जो सुखी मनुष्योंमें मित्रताकी भावना है, उसमें संयम करनेसे योगीको मित्रताकी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है अर्थात् वह सबका मित्र बनकर उनको सुख पहुँचानेमें समर्थ हो जाता है। दूसरी जो दुःखी मनुष्योंमें करुणाकी भावना है, उसमें संयम करनेसे योगीको करुणाबल प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसका स्वभाव परम दयालु हो जाता है और उसमें हरेक प्राणीके दुःखोंको दूर करनेकी सामर्थ्य आ जाती है। तीसरी जो पुण्यात्मा मनुष्योंमें मुदिताकी भावना है, उसमें संयम करनेसे मुदिताका बल प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह ईर्ष्याके दोषसे सर्वथा शून्य हो जाता है और सदैव प्रसन्न रहता है। कोई भी परिस्थिति उसके मनमें किञ्चिन्मात्र भी चिन्ता, शोक या भयकी वृत्ति उत्पन्न नहीं कर सकती तथा वह दूसरोंको भी अपनी ही भाँति प्रसन्न बनानेमें समर्थ हो जाता है ॥ २३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

बलेषु=(भिन्न-भिन्न) बलोंमें (संयम करनेसे); **हस्तिबलादीनि**=हाथी आदिके बलके सदृश (संयमके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके) बल प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—यदि वह हाथीके बलमें संयम करता है तो उसे हाथीके समान बल मिल जाता है। यदि गरुड़के बलमें संयम करता है तो गरुड़के समान बल मिल जाता है। यदि वायुके बलमें संयम करता है तो वायुके

समान बल मिलता है। इसी तरह जिसके बलमें संयम करता है, वैसा ही बल उसे प्राप्त हो जाता है॥ २४॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्॥ २५॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्=ज्योतिष्मती प्रवृत्तिका प्रकाश डालनेसे; **सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्**=सूक्ष्म व्यवधानयुक्त और दूर-देशमें स्थित वस्तुओंका ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—तीन प्रकारकी वस्तुओंका प्रत्यक्ष साधारणतया इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता। एक तो जो वस्तु अत्यन्त सूक्ष्म होती है, जैसे परमाणु, महत्तत्त्व प्रकृति आदि; दूसरी व्यवहित अर्थात् जो किसी परदेमें छिपी हो, जैसे समुद्रमें रत्न, खानमें सुवर्ण, मणि आदि; तीसरी विप्रकृष्ट अर्थात् जो दूर-देशमें वर्तमान हो, जैसे हम आसाममें बैठे हैं और वस्तु मारवाड़में पड़ी है अथवा यों समझिये हि हम हिन्दुस्तानमें हैं और वस्तु अमेरिकामें पड़ी है। इनमें किसी भी वस्तुको जाननेके लिये जब योगी पहले पादके छत्तीसवें और सैंतालीसवें सूत्रमें तथा इस पादके पाँचवें सूत्रमें वर्णित ज्योतिष्मती अर्थात् प्रकाशवती प्रवृत्तिके प्रकाशको उसपर छोड़ता है, तब उसी समय वह योगीके प्रत्यक्ष हो जाती है॥ २५॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥ २६॥

सूर्ये=सूर्यमें; **संयमात्**=संयम करनेसे; **भुवनज्ञानम्**=समस्त लोकोंका ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—पुराणोंमें चौदहों भुवनोंका वर्णन आता है, उनमेंसे एक भूलोक है, उन चौदहों भुवनोंका ज्ञान सूर्यमें संयम करनेसे हो जाता है। व्यासभाष्यमें इन लोकोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, परंतु आध्यात्मिक साधनके लिये उपयोगी न समझकर मैंने यहाँ उनका वर्णन नहीं किया है। इनके सिवा यह बात भी है कि इनके विषयका वर्णन ठीक-ठीक समझमें भी नहीं आता॥ २६॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

चन्द्रे=चन्द्रमामें (संयम करनेसे); **ताराव्यूहज्ञानम्**=सब तारोंके व्यूह (स्थिति-विशेष) का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—चन्द्रमामें संयम करनेसे कौन तारा किस स्थानमें टिका है, इसका यथावत् ज्ञान हो जाता है॥ २७॥

सम्बन्ध—*उसके बाद*—

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ध्रुवे=ध्रुवतारोंमें (संयम करनेसे); **तद्गतिज्ञानम्**=उन ताराओंकी गतिका ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—ध्रुवतारा निश्चल है और सब ताराओंकी गतिका उससे सम्बन्ध है, अतः उसमें संयम करनेसे समस्त ताराओंकी गतिका अर्थात् कौन तारा कितने समयमें किस राशि और नक्षत्रपर जायगा—इसका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है॥ २८॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

नाभिचक्रे=नाभिचक्रमें (संयम करनेसे); **कायव्यूहज्ञानम्**=शरीरके व्यूह (उसकी स्थिति) का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—नाभिमें स्थित जो चक्र है, जिसमें शरीरकी समस्त नाड़ियाँ गुथी हुई हैं, उसमें संयम करनेसे शरीरके व्यूहका ज्ञान हो जाता है अर्थात् शरीरका संगठन किस प्रकार हुआ है, उसमें कौन-सी धातु किस प्रकार कहाँ स्थित है, इन सबका और समस्त नाड़ियोंका योगीको पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है॥ २९॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कण्ठकूपे=कण्ठकूपमें (संयम करनेसे); **क्षुत्पिपासानिवृत्तिः**=भूख और प्यासकी निवृत्ति हो जाती है।

व्याख्या—जिह्वाके नीचे एक तन्तु है (जिसे जिह्वामूल भी कहते हैं), उसके नीचे कण्ठ है, उसके नीचे कूप (गड्ढा) है। उस कण्ठकूपमें संयम करनेसे भूख-प्यासकी बाधा मिट जाती है। इसमें यह कारण बतलाया जाता है कि उस कण्ठकूपसे प्राणवायु टकराती है, उसीसे भूख-प्यासकी बाधा होती है, उसमें संयम करनेके बाद वह नहीं होते॥ ३०॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्॥ ३१॥

कूर्मनाड्याम्=कूर्माकार (नाड़ीमें संयम करनेसे); **स्थैर्यम्**=स्थिरता होती है।

व्याख्या—उक्त कूपके नीचे वक्षःस्थलमें एक कछुएके आकारवाली नाड़ी है, उसमें संयम करनेसे स्थिर स्थितिकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् चित्त और शरीर—दोनों स्थिर हो जाते हैं॥ ३१॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥ ३२॥

मूर्धज्योतिषि=मूर्धाकी ज्योतिमें (संयम करनेसे); **सिद्धदर्शनम्**=सिद्ध पुरुषोंके दर्शन होते हैं।

व्याख्या—सिरके कपोलमें एक छिद्र है (इसीको ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं), वहाँ जो प्रकाशमयी ज्योति है, उसमें संयम करनेवालेको पृथ्वी और स्वर्गलोकके बीचमें विचरनेवाले सिद्धोंके दर्शन होते हैं॥ ३२॥

प्रातिभाद्वा सर्वम्॥ ३३॥

वा=अथवा; **प्रातिभात्**=प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होनेसे (बिना किसी संयमके ही); **सर्वम्**=(योगीको पहले कही हुई) सारी बातोंका ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—जिसका वर्णन इसी पादके ३६ वें सूत्रमें है, उसका नाम प्रातिभ ज्ञान है, यह विवेकजनित ज्ञानका पूर्णरूप है। अतः जिस प्रकार सूर्यकी प्रभासे जो कि सूर्योदयसे कुछ पहले प्रकट होता है, मनुष्य सब

वस्तुओंको देख सकता है, उसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होनेसे योगी सब कुछ जान जाता है॥ ३३ ॥

हृदये चित्तसंवित्॥ ३४ ॥

हृदये=हृदयमें (संयम करनेसे); **चित्तसंवित्**=चित्तके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—इस ब्रह्मपुर नामक हृदयदेशमें गर्त (गड्ढे) के आकारवाला कमल है, वह चित्तका स्थान है, उसमें संयम करनेसे वृत्तियोंसहित चित्तका ज्ञान हो जाता है॥ ३४ ॥

सम्बन्ध—*चित्तके स्वरूपका ज्ञान होनेसे विवेक होते ही पुरुषके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है। अतः अगले सूत्रमें कहते हैं—*

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्॥ ३५ ॥

सत्त्वपुरुषयोः अत्यन्तासंकीर्णयोः=सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष जो कि दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं (किसी प्रकार भी सम्मिलित होनेवाले नहीं हैं)—इन दोनोंकी; **प्रत्ययाविशेषः**=जो प्रतीतिका अभेद है, वही; **भोगः**=भोग है, (उसमेंसे); **परार्थात् स्वार्थसंयमात्**=परार्थ-प्रतीतिसे भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति है, उसमें संयम करनेसे; **पुरुषज्ञानम्**=पुरुषका ज्ञान (होता है)।

व्याख्या—बुद्धि और पुरुष—दोनों सर्वथा भिन्न हैं, उनका कोई मेल नहीं है, क्योंकि बुद्धि परिणामशील, जड, भोग्य और चञ्चल है एवं पुरुष अपरिणामी, चेतन, भोक्ता और असङ्ग है। तथापि अविद्याके कारण उनकी एकता-सी हो रही है, इसीका नाम अस्मिता है (योग० २। ६)। इस एकताके कारण दोनोंका अलग-अलग ज्ञान नहीं होता, एक साथ मिला हुआ ज्ञान होता है, उस दशामें इस जड-बुद्धिमें (जो कि पुरुषकी चेतनासे चेतन-सी हो रही है) जो सुख-दुःख और मोहरूप नाना प्रकारकी वृत्तियोंका उदय होता है, वह वृत्ति

अविशेष (अभिन्न-मिश्रित) है, क्योंकि इससे चित्तके धर्म सुख-दुःख और मोह आदि चित्तमें प्रतिबिम्बित चैतन्य पुरुषमें अध्यारोपित होते हैं। यह अभेद-प्रतीति ही भोग है। यह अभेदरूप वृत्ति यद्यपि चित्तका धर्म है, परंतु पुरुषके लिये है, इस कारण परार्थ है और इसी दशामें जो इस भोगरूप वृत्तियोंसे भिन्न द्रष्टापुरुषके स्वरूपविषयक वृत्ति होती है, वह पौरुषेय वृत्ति स्वार्थ है, क्योंकि उसका विषय पुरुष है और वह है भी उसके लिये, अतः वह परार्थ नहीं है। इस स्वार्थवृत्तिमें संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है? यद्यपि ज्ञान बुद्धिका धर्म है, अतः उस बुद्धिके धर्मरूप ज्ञानसे पुरुष नहीं जाना जाता है, किन्तु बुद्धिमें जो पुरुषका चेतनरूप प्रतिबिम्बित है, उसको दर्पणमें अपना मुख देखनेकी भाँति पुरुष देखता है। इस प्रकार उक्त संयमसे योगीको पुरुषका ज्ञान होता है।*

यही प्रथम पादके इकतालीसवें सूत्रमें बतलायी हुई ग्रहीतृविषयक समाधि है। इस समाधिका ध्येय 'पुरुष' अस्मितासे सम्बन्धित होनेके कारण पहले पादके सतरहवें सूत्रमें इसको अस्मितानुगत समाधिके नामसे भी कहा है, ऐसा अनुमान किया जाता है, क्योंकि ऐसा माननेसे पूर्वापरका प्रसंग ठीक बैठ जाता है तथा ग्रहीतृविषयक समाधिका निर्विचारमें अन्तर्भाव मानना भी सुसंगत हो जाता है॥ ३५॥

सम्बन्ध—उक्त संयमसे पुरुषका ज्ञान होनेके पूर्व जो सिद्धियाँ योगीके सामने आती हैं, उनका वर्णन करते हैं—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते॥ ३६॥

ततः=उस (स्वार्थ-संयम) से; **प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ताः**=

---

* यह विषय मैंने भाष्य और दूसरे-दूसरे टीकाकारोंका भाव लेकर लिखा है, परंतु यह तर्कसे समझमें आनेवाला विषय नहीं है। अतः अनुभवी सज्जनोंको इसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये।

प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता—ये (छः सिद्धियाँ); **जायन्ते**=प्रकट होती हैं।

व्याख्या—ये छहों सिद्धियाँ ग्रहीतृविषयक समाधिके साधनमें लगे हुए साधकको पुरुषज्ञानके पहले प्राप्त होती हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) प्रातिभ—इसका वर्णन तैंतीसवें सूत्रमें आया है। इससे भूत, भविष्य और वर्तमान एवं सूक्ष्म, ढकी हुई और दूर-देशमें स्थित वस्तुएँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं।

(२) श्रावण—इससे दिव्य शब्द सुननेकी शक्ति आ जाती है।

(३) वेदन—इससे दिव्य स्पर्शका अनुभव करनेकी शक्ति आ जाती है।

(४) आदर्श—इससे दिव्य रूपका दर्शन करनेकी शक्ति आ जाती है।

(५) आस्वाद—इससे दिव्य रसका अनुभव करनेकी शक्ति आ जाती है।

(६) वार्ता—इससे दिव्य गन्धका अनुभव करनेकी शक्ति आ जाती है॥ ३६॥

सम्बन्ध—*इन सिद्धियोंमें वैराग्य करनेके लिये कहते हैं—*

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

ते=वे (उक्त छः प्रकारकी सिद्धियाँ); **समाधौ**=समाधिकी सिद्धिमें (पुरुषको ज्ञान प्राप्त करनेमें); **उपसर्गाः**=विघ्न हैं (और); **व्युत्थाने**=व्युत्थानमें; **सिद्धयः**=सिद्धियाँ हैं।

व्याख्या—उक्त छः प्रकारकी सिद्धियाँ साधकके सामने आयें तो इनका त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि ये उसके साधनमें विघ्नस्वरूप हैं। हाँ, जिसका चित्त चञ्चल है, जो साधक नहीं है, जो समाधिकी या आत्मोद्धारकी आवश्यकता नहीं समझता है, ऐसे मनुष्यको किसी कारणसे प्राप्त हो जायँ तो उसके लिये अवश्य ही ये सिद्धियाँ हैं॥ ३७॥

सम्बन्ध—*यहाँतक नाना प्रकारके संयमोंसे जो भिन्न-भिन्न ज्ञान होते हैं, उनका*

****

वर्णन पुरुषके ज्ञानपर्यन्त किया गया, अब भिन्न-भिन्न संयमोंसे जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी क्रियाशक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनका वर्णन अगले सूत्रोंमें किया जाता है—

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात्=बन्धनके कारण (कर्म) की शिथिलतासे; **च**=और; **प्रचारसंवेदनात्**=चित्तकी गतिका भलीभाँति ज्ञान होनेसे; **चित्तस्य**=चित्तका; **परशरीरावेशः**=दूसरेके शरीरमें प्रवेश (किया जा सकता है)।

व्याख्या—चित्तके बन्धनका कारण कर्म-संस्कार है; कर्मोंका फल भुगतानेके लिये ही यह चित्त किसी एक शरीरमें बँधे रहनेके लिये बाध्य हो जाता है। उक्त बन्धनके कारणरूप कर्मसंस्कारोंको जब मनुष्य समाधिके अभ्यासद्वारा शिथिल करके चित्तको स्वच्छ बना लेता है और साथ ही जिन-जिन मार्गोंद्वारा चित्त शरीरमें विचरता है (जाता-आता है), उन मार्गोंको और चित्तकी गतिको भी भलीभाँति जान लेता है; तब उसमें यह सामर्थ्य आ जाती है कि वह अपने चित्तको शरीरसे बाहर करके दूसरेके (मृत या जीवित) किसी भी शरीरमें प्रविष्ट कर सकता है। चित्तके साथ-साथ इन्द्रियाँ भी जहाँ चित्त जाता है, वहाँ अपने-आप चली जाती हैं॥ ३८॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

उदानजयात्=उदान वायुको जीत लेनेसे; **जलपङ्ककण्टकादिषु**=जल, कीचड़, कण्टकादिसे; **असङ्गः**=उसके शरीरका संयोग नहीं होता; **च**=और; **उत्क्रान्तिः**=ऊर्ध्वगति भी होती है।

व्याख्या—शरीरके जीवनका आधार प्राण है, क्रियाभेदसे उसके प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—ये पाँच नाम हैं। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) प्राण—यह इन पाँचोंमें प्रधान है, इसकी गति मुख और

नासिकाद्वारा होती है। नासिकाके अग्रभागसे लेकर हृदयतक शरीरमें इसका देश है।

(२) अपान—यह नीचेकी ओर गमन करनेवाला है, नाभिसे लेकर पादतलतक इसका देश है। मूत्र, विष्ठा और गर्भ आदि इसीके वेगसे नीचे उतरते हैं।

(३) समान—हृदयसे लेकर नाभितक इसका देश है, खान-पानके रसको समस्त शरीरमें यथायोग्य पहुँचा देना इसका काम है, इसकी गति सम है।

(४) व्यान—यह समस्त शरीरमें व्याप्त रहता हुआ ही समस्त नाड़ियोंमें विचरता है।

(५) उदान—यह ऊपरकी ओर गमन करनेवाला है; कण्ठमें रहनेवाला और सिरतक गमन करनेवाला है। मृत्युके समय इसीके सहारे सूक्ष्म शरीरका गमन होता है। यह विषय प्रश्नोपनिषद् (३। ५ से ७) में देखना चाहिये।

जब योगी उक्त उदानवायुपर विजय प्राप्त कर लेता है, तब उसका शरीर धुनी हुई रूईकी भाँति अत्यन्त हलका हो जाता है, अतः पानी और कीचड़पर चलते हुए भी उसके पैर अन्दर नहीं जाते, काँटे आदि भी उसके शरीरमें प्रविष्ट नहीं हो सकते। इसके सिवा मरण-कालमें उसके प्राण ब्रह्मरन्ध्र (मूर्धाके छिद्र) द्वारा निकलते हैं; इस कारण ऐसे योगीकी शुक्लमार्गसे गति होती है। उपनिषदोंमें भी उक्त ऊर्ध्वगतिका वर्णन आया है (देखिये कठ० २। ३। १६)॥ ३९॥

समानजयाज्ज्वलनम्॥ ४०॥

समानजयात्=(संयमद्वारा) समानवायुको जीत लेनेसे; **ज्वलनम्**=(योगीका शरीर) दीप्तिमान् हो जाता है।

व्याख्या—जब योगी संयमके द्वारा उपर्युक्त समानवायुको जीत लेता है, तब उसका शरीर अग्निके सदृश प्रज्वलित यानी अत्यन्त देदीप्यमान (प्रकाशयुक्त) हो जाता है; क्योंकि जठराग्नि और समानवायुका घनिष्ठ

****

सम्बन्ध है, अतः समानवायुको जीत लेनेपर योगी अपने शरीरमें रहनेवाले जठराग्निके आवरणको हटाकर अग्निके सदृश प्रकाशमान हो सकता है ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—पहले छत्तीसवें सूत्रमें जो छः सिद्धियाँ बतलायी गयी हैं, उनमेंसे श्रावण नामकी सिद्धिका साधन बतलाते हैं—

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

श्रोत्राकाशयोः=श्रोत्र (कान) और आकाशके; **सम्बन्धसंयमात्**= सम्बन्धमें संयम कर लेनेसे (योगीके); **श्रोत्रम्**=श्रोत्र; **दिव्यम्**=दिव्य हो जाते हैं।

व्याख्या—शब्दको ग्रहण करनेवाली श्रोत्र-इन्द्रिय अहंकारसे उत्पन्न हुई है और आकाशकी उत्पत्ति अहंकारजनित शब्दतन्मात्रासे हुई है, अतः आकाश, शब्द और श्रोत्र-इन्द्रिय—इन तीनोंकी एकता है। इस श्रोत्र और आकाशके सम्बन्धको जब योगी संयमद्वारा प्रत्यक्ष कर लेता है तब उसकी श्रोत्र-इन्द्रियमें दिव्य शक्ति आ जाती है। फिर वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म शब्दको सुन सकता है तथा किसी वस्तुसे ढके हुए शब्दको भी सुन सकता है और जो शब्द कहीं दूर-देशमें बोला जाय, उसे भी सुन सकता है, क्योंकि आकाश विभु अर्थात् सर्वव्यापी है, इस कारण उसके अन्दर कहीं भी होनेवाला शब्द तत्काल ही सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। अतः जिसकी श्रोत्र-इन्द्रिय दिव्य यानी अलौकिक हो जाती है, वह चाहे जिस शब्दको, जहाँपर वह हो वहीं सुन सकता है ॥ ४१ ॥

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाश-गमनम् ॥ ४२ ॥

कायाकाशयोः=शरीर और आकाशके; **सम्बन्धसंयमात्**=सम्बन्धमें संयम करनेसे; **च**=और; **लघुतूलसमापत्तेः**=हलकी वस्तु (रूई आदि) में संयम करनेसे; **आकाशगमनम्**=आकाशमें चलनेकी शक्ति आ जाती है।

व्याख्या—शरीर और आकाशका जो सम्बन्ध है; उसे संयमद्वारा पूर्णतया प्रत्यक्ष कर लेनेपर योगी इस तत्त्वको भलीभाँति समझ लेता है कि शरीरके अङ्ग किस प्रकार सूक्ष्म-अवस्थासे स्थूल-अवस्थामें परिणत होते हैं और किस प्रकार पुनः स्थूलसे सूक्ष्म किये जा सकते हैं। अतः वह अपने शरीरको अत्यन्त हलका बनाकर आकाशमें गमन कर सकता है। इसी तरह योगी जब किसी भी सूक्ष्म (धुनी हुई रूई या बादल आदि) वस्तुमें संयम करके तद्रूप हो जाता है, तब उससे भी उसको आकाशगमनकी योग्यता मिल जाती है॥ ४२॥

सम्बन्ध—*अब ज्ञानके आवरणका नाश जिस उपायसे किया जा सकता है; वह बतलाते हैं—*

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

बहिरकल्पिता=शरीरके बाहर अकल्पित; **वृत्तिः**=स्थितिका नाम; **महाविदेहा**=महाविदेहा है; **ततः**=उस; **प्रकाशावरणक्षयः**=बुद्धिकी ज्ञानशक्तिके आवरणका क्षय हो जाता है।

व्याख्या—शरीरके बाहर जो मनकी स्थिति है, उसको विदेह-धारणा कहते हैं, वह जब मनके शरीरमें रहते हुए ही केवल भावनामात्रसे होती है, तब तो कल्पित है और जब शरीरसे सम्बन्ध छोड़कर बाहर निकले हुए मनकी बाहर स्थिति हो जाती है, तब अकल्पित होती है। कल्पित धारणाके अभ्याससे ही अकल्पित धारणा सिद्ध होती है। इसीको महाविदेहा कहते हैं, इससे योगीके ज्ञानका आवरण नष्ट हो जाता है। यह धारणा इन्द्रिय और मनकी स्वरूपावस्थामें संयम करनेसे होती है (योग० ३।४८)॥ ४३॥

सम्बन्ध—*यहाँतक नाना प्रकारके संयमोंका फलसहित वर्णन किया, अब जो पहले पादके इकतालीसवें सूत्रमें ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतामें की जानेवाली सबीज-समाधिके लक्षण बतलाये गये थे, उनका फल बतलानेके लिये पहले पाँच भूतोंमें और तज्जनित पदार्थोंमें की जानेवाली ग्राह्यविषयक समाधिका फल बतलाते हैं—*

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमात्=(भूतोंकी) स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्त्व—इन पाँच प्रकारकी अवस्थाओंमें संयम करनेसे (योगीको); **भूतजयः**=पाँचों भूतोंपर विजय प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच भूत हैं। इनमेंसे हरेककी पाँच अवस्थाएँ होती हैं। जैसे—

(१) स्थूलावस्था—जिस रूपमें हम इनको अपनी इन्द्रियोंद्वारा अनुभव कर रहे हैं, जिनको गीतामें इन्द्रियगोचर नाम दिया है (१३।५), वे इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामवाले पाँचों विषय इनकी स्थूल अवस्था है।

(२) स्वरूपावस्था—इनके जो लक्षण हैं, वह इनकी स्वरूपावस्था है। जैसे पृथ्वीकी मूर्ति, जलका गीलापन, अग्निकी उष्णता और प्रकाश, वायुकी गति और कम्पन, आकाशका अवकाश—यह इनकी स्वरूपावस्था है, क्योंकि इन्हींसे इनके भिन्न-भिन्न सत्ताका अनुभव होता है।

(३) सूक्ष्मावस्था—इनकी जो कारण-अवस्था है, जिनको तन्मात्रा और सूक्ष्म महाभूत भी कहते हैं, वे इनकी सूक्ष्म-अवस्था हैं।

जैसे पृथ्वीकी गन्धतन्मात्रा, जलकी रसतन्मात्रा, अग्निकी रूपतन्मात्रा, वायुकी स्पर्शतन्मात्रा और आकाशकी शब्दतन्मात्रा।

(४) अन्वय-अवस्था—पाँचों भूतोंमें जो तीनों गुणोंका स्वभाव यानी प्रकाश, क्रिया और स्थिति व्याप्त है, वह इनकी अन्वय-अवस्था है।

(५) अर्थवत्त्व-अवस्था—ये पाँचों भूत पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये हैं। यही इनकी अर्थवत्त्व (प्रयोजनता) अवस्था है।

इन पाँचों भूतोंको प्रत्येक अवस्थाके क्रमसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें भलीभाँति संयम करके जब योगी इनको प्रत्यक्ष कर लेता है, तब योगीका इन भूतोंपर पूरा अधिकार हो जाता है॥ ४४ ॥

****

सम्बन्ध—*इस प्रकार जब योगी भूतोंपर विजय प्राप्त कर लेता है, तब क्या होता है ? सो बतलाते हैं—*

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

ततः=उस (भूतजय) से; **अणिमादिप्रादुर्भावः**=अणिमादि आठ सिद्धियोंका प्रकट हो जाना; **कायसम्पत्**=कायसम्पत्‌की प्राप्ति; **च**=और; **तद्धर्मानभिघातः**=उन भूतोंके धर्मोंसे बाधा न होना—(ये तीनों होते हैं)।

व्याख्या—(क) ऊपर बतलायी हुई अणिमादि आठ सिद्धियोंके नाम और लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) अणिमा—अणुके समान सूक्ष्म रूप धारण कर लेना, जैसे हनुमान्‌जीने सुरसाके मुखमें एवं लङ्कामें प्रवेश करते समय किया था (वा० रामायण, सुन्दर० १। १५६, २। ४७)।

(२) लघिमा—शरीरको हलका कर देना। इससे जल, पङ्क और कण्टकादिसे बाधा नहीं होती (योग० ३। ३९) और आकाशमें गमन करनेकी शक्ति आ जाती है (योग० ३। ४२)।

(३) महिमा—शरीरको बड़ा कर लेना। जैसे हनुमान्‌जीने सुरसाके सामने किया था (वा० रामायण, सुन्दर० १। १५४)।

(४) गरिमा—शरीरको भारी कर लेना। जैसे हनुमान्‌जीने भीमसेनके मार्गमें रुकावट डालते समय किया था (महा०, वन० १४६-१४७ वाँ अध्याय)।

(५) प्राप्ति—जिस किसी इच्छित भौतिक पदार्थको संकल्पमात्रसे ही प्राप्त कर लेना।

(६) प्राकाम्य—बिना रुकावट भौतिक पदार्थ-सम्बन्धी इच्छाकी पूर्ति अनायास हो जाना।

(७) वशित्व—पाँचों भूतोंका और तज्जन्य पदार्थोंका वशमें हो जाना।

(८) ईशित्व—उन भूत और भौतिक पदार्थोंका नानारूपोंमें उत्पन्न करनेकी और उनपर शासन करनेकी सामर्थ्य।

****

(ख) कायसम्पत्का विवरण अगले सूत्रमें आयेगा।

(ग) भूतोंके धर्मोंसे बाधा न होना—इसका यह भाव है कि भूतोंके धर्म उस योगीके काममें बाधा नहीं डाल सकते। वह पृथ्वीके अंदर भी उसी प्रकार प्रवेश कर सकता है, जैसे हरेक मनुष्य जलमें प्रवेश कर सकता है। पृथ्वीका धर्म स्थूलभाव (कड़ापन) उसे बाधा नहीं पहुँचा सकता। उसपर यदि पत्थरोंकी वर्षा की जाय तो वे उसके शरीरमें आघात नहीं पहुँचा सकते। इसी तरह जलका गीलापन उसके शरीरको गला नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकता अर्थात् सर्दी-गर्मी, वर्षा आदि कोई भी भूतोंके धर्म उसके शरीरमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पहुँचा सकते।

ये सब सिद्धियाँ योगीको चौवालीसवें सूत्रके कथनानुसार भूतोंकी सब अवस्थाओंपर विजय प्राप्त कर लेनेपर मिलती हैं, यह भाव है॥ ४५॥

सम्बन्ध—*उक्त कायसम्पत्की व्याख्या सूत्रकार स्वयं करते हैं—*

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि=रूप, लावण्य, बल और वज्रके समान संगठन—ये; **कायसम्पत्**=शरीरकी सम्पदाएँ हैं।

व्याख्या—अत्यन्त सुन्दर आकृति, समस्त अङ्गोंमें चमक, बलकी बहुलता तथा शरीरके समस्त अङ्गोंका वज्रकी भाँति दृढ़ और परिपूर्ण हो जाना—ये चारों शरीरसम्बन्धी सम्पदा हैं॥ ४६॥

सम्बन्ध—*अब मनसहित इन्द्रियोंमें की जानेवाली ग्रहणविषयक समाधिके फलका वर्णन करते हैं—*

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमात्=ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व—इन पाँचों अवस्थाओंमें संयम करनेसे; **इन्द्रियजयः**=मनसहित समस्त इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या—मनसहित इन्द्रियोंकी पाँच अवस्थाएँ हैं। उनमें क्रमसे संयम करनेसे योगीका इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार हो जाता है। उनकी अवस्थाओंके पाँच भेद इस प्रकार हैं—

(१) ग्रहण—विषयोंको ग्रहण करते समय जो वृत्तिके आकारमें मनसहित इन्द्रियोंकी अवस्था है, यह उनकी ग्रहण-अवस्था है।

(२) स्वरूप—मन और इन्द्रियोंका स्वाभाविक स्वरूप, जो कि अपने-अपने स्थानमें विद्यमान रहता है और लक्षण (संकेत) से जाननेमें आता है, यह उनकी स्वरूप-अवस्था है।

(३) अस्मिता—यह मनसहित इन्द्रियोंका सूक्ष्मरूप है। इसीसे मनसहित दसों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। यह उनकी सूक्ष्मावस्था है।

(४) अन्वय—मनसहित सब इन्द्रियोंमें जो तीनों गुणोंका स्वभाव यानी प्रकाश, क्रिया और स्थिति व्याप्त है, वह इनकी अन्वय-अवस्था है।

(५) अर्थवत्त्व—ये मनसहित सब इन्द्रियाँ पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये हैं, यही इनकी अर्थवत्त्व-अवस्था (सार्थकता) है।

इस प्रकार जब मन और दसों इन्द्रियोंकी पाँचों अवस्थाओंमें योगी क्रमसे संयम करके भलीभाँति उनको प्रत्यक्ष कर लेता है, तब इन सबपर उसका पूरा अधिकार हो जाता है।

इन्द्रियाँ और मन—ये सभी अहंकारसे उत्पन्न हैं तथा मन और इन्द्रियोंके मेलसे पुरुष विषयोंको ग्रहण करता है या अकेले मनके द्वारा करता है। अतः यहाँ इन्द्रियजयसे मनसहित सब इन्द्रियोंपर विजय समझनी चाहिये तथा मनमें की जानेवाली और अस्मितामें की जानेवाली समाधिको भी ग्रहणमें की जानेवाली समाधिके अन्तर्गत समझना चाहिये॥ ४७॥

सम्बन्ध—*उक्त इन्द्रियजयका फल बतलाते हैं*—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

ततः=उस (इन्द्रियजय) से; **मनोजवित्वम्**=मनके सदृश गति;

विकरणभावः=शरीरके बिना भी विषयोंका अनुभव करनेकी शक्ति; **च**=और; **प्रधानजयः**=प्रकृतिपर अधिकार—ये तीनों सिद्धियाँ मिलती हैं।

व्याख्या—इन तीनों सिद्धियोंका अलग-अलग स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये—

(१) मनोजवित्व—स्थूल शरीर और इन्द्रियोंके सहित मनकी तरह एक क्षणमें कहीं-से-कहीं दूर-देशमें जानेकी शक्तिको मनोजवित्व अर्थात् मनके सदृश गतिकी शक्ति कहते हैं। यह ग्रहण-अवस्थामें संयमका फल है।

(२) विकरणभाव—स्थूल शरीरके बिना ही दूर-देशमें स्थित वस्तुओंको प्रत्यक्ष कर लेनेकी शक्तिको विकरणभाव कहते हैं। जब योगीकी महाविदेहा धारणा (योग० ३।४३) सिद्ध हो जाती है, उस समय भी मन और इन्द्रियोंमें यही शक्ति काम करती है, उसीसे मनुष्य दूर-देशमें स्थित पर-शरीरको प्रत्यक्ष करके उसमें प्रविष्ट होता है (योग० ३।३८); यह स्वरूपावस्थामें संयमका फल है।

(३) प्रधानजय—कार्य और कारणरूपमें स्थिर प्रकृतिके सम्पूर्ण भेदोंपर पूरा अधिकार हो जाना 'प्रधानजय' है; यह अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व-अवस्थामें संयमका फल है। यह संयम ही प्रकृतिलय कहलाता है।

ये तीनों प्रकारकी सिद्धियाँ ग्रहणविषयक समाधि सिद्ध हो जानेपर अपने-आप मिल जाती हैं॥ ४८॥

सम्बन्ध—*अब ग्रहीतामें होनेवाली ग्रहीतृविषयक समाधिका फलसहित वर्णन करते हैं—*

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य=बुद्धि और पुरुष—इन दोनोंकी भिन्नतामात्रका ही जिसमें ज्ञान रहता है, ऐसी सबीज समाधिको प्राप्त योगीका; **सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्**=सब भावोंपर स्वामिभाव; **च**=और; **सर्वज्ञातृत्वम्**=सर्वज्ञभाव हो जाता है।

व्याख्या—ग्रहीतृविषयक समाधिसे जब बुद्धिके रजोगुण और तमोगुणसम्बन्धी संस्कार सर्वथा धुलकर उसमें शुद्ध सत्त्वगुणके ही संस्कार रह जाते हैं, उस समय केवलमात्र पुरुष और प्रकृतिकी भिन्नताका अनुभव करनेवाली वृत्ति रहती है, इसीको विवेकज्ञान भी कहते हैं (योग० ३ । ५४, ४ । २५) । इसीको पहले स्वार्थमें संयम करनेसे होनेवाले पुरुषज्ञानके नामसे कहा है (योग० ३ । ३५) । ग्रहीतृविषयक समाधिके द्वारा जब यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, उस समय योगीको समस्त भावोंपर स्वामिभाव प्राप्त हो जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण गुण—जो कि कार्यका आरम्भ करनेमें लगे हुए हैं और जो अनारम्भ-अवस्थामें हैं वे सब दासकी भाँति आज्ञापालन करनेके लिये सर्वभावसे उपस्थित हो जाते हैं तथा उसे भूत, वर्तमान और भविष्य-अवस्थाओंमें स्थित समस्त गुणोंका एक साथ भलीभाँति ज्ञान हो ज़ाता है। इसीसे वह योगी सर्वज्ञ कहलाता है, इसके बादकी अवस्था धर्ममेघसमाधि है (योग० ४ । २९) ॥ ४९ ॥

***सम्बन्ध**—पहले पादके सैंतालीसवें सूत्रमें कही हुई ऊँची-से-ऊँची सबीज-समाधिको और अड़तालीसवें सूत्रमें कही हुई ऋतम्भरा प्रज्ञाको भी निर्बीज-समाधिका बहिरङ्ग साधन बतलाया है; अतः उपर्युक्त सिद्धिसे भी विरक्त होनेपर निर्बीज-समाधिरूप कैवल्यकी प्राप्ति बतलाते हैं—*

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

तद्वैराग्यात् अपि=उस (उपर्युक्त सिद्धि) में भी वैराग्य होनेसे; **दोषबीजक्षये**=दोषके बीजका नाश हो जानेपर; **कैवल्यम्**=कैवल्यकी प्राप्ति होती है।

व्याख्या—ग्रहीतृविषयक समाधिमें जब यह ज्ञान हो जाता है कि बुद्धि और पुरुष—दोनों अत्यन्त भिन्न हैं, इनका संयोग अविद्याकृत है वास्तविक नहीं है, उस समय उसके सामने पूर्व सूत्रमें बतायी हुई सिद्धियोंका प्रादुर्भाव होता है। उनमें न अटककर जो योगी पुरुषको सर्वथा असङ्ग, निर्विकार, कूटस्थ, आनन्दमय और चेतन तथा समस्त गुणों और उनके कार्योंको जड, दुःखप्रद

और प्रतिक्षण बदलनेवाले समझकर सम्पूर्ण गुणोंसे और उनके कार्योंसे अत्यन्त विरक्त हो जाता है (योग० १ । १६), उक्त परवैराग्यसे जब दोषोंके बीजरूप अन्तिम वृत्तिका भी सर्वथा निरोध हो जाता है, तब निर्बीजसमाधि हो जाती है। इस अवस्थामें अपनी वृत्तियोंके संस्कारोंसहित चित्त अपने कारणमें विलीन हो जाता है और पुरुषकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है (योग० ४ । ३४) । यह पुरुषका गुणोंके साथ आत्यन्तिक वियोग है; इसीको कैवल्य कहते हैं ॥ ५० ॥

सम्बन्ध—*जब साधक कुछ उन्नत अवस्थामें जाने लगता है, तब उसके जीवनमें नाना प्रकारके विघ्न आया करते हैं, अतः उनसे बचनेके लिये सावधान करते हैं*—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे=लोकपाल देवताओंके बुलानेपर; **सङ्गस्मयाकरणम्**=न तो (उनके भोगोंमें) सङ्ग (राग) करना चाहिये और न अभिमान करना चाहिये; **पुनरनिष्टप्रसङ्गात्**=क्योंकि ऐसा करनेसे पुनः अनिष्ट होना सम्भव है।

व्याख्या—जब योगीकी अच्छी स्थिति हो जाती है, उस समय बड़े-बड़े लोकपाल अधिकारी देवता और सिद्धोंके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं, उस समय देवतालोग उसे अपने लोकोंमें भोगोंका सुख दिखाकर नाना प्रकारसे उन भोगोंकी बड़ाई करके अपने पास बुलाया करते हैं। उस समय साधकको खूब सावधान रहना चाहिये, उनके प्रलोभनमें नहीं पड़ना चाहिये। अपने मनमें बार-बार यह भाव लाना चाहिये कि जन्म-जन्मान्तरमें कर्मोंका भोग करते-करते इस मनुष्य-शरीरमें बड़े सौभाग्यसे महापुरुषोंकी और ईश्वरकी परम दयासे यह स्थिति प्राप्त हुई है, इसके सामने ये नाना प्रकारके क्षणभङ्गुर भोग अत्यन्त तुच्छ हैं। इनके प्रलोभनमें पड़कर मैं अपने-आपको कैसे संसार-समुद्रमें डुबा सकता हूँ ! मैंने तो इन सबका तत्त्व भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लिया है; इनमें सुखकी गन्ध भी नहीं है। इस प्रकारकी भावना करके उनसे विरक्त हो जाना चाहिये, उनमें जरा-सा भी अपने चित्तका रागयुक्त सम्बन्ध यानी आसक्ति

नहीं होने देनी चाहिये तथा इस बातका अभिमान भी अपने मनमें नहीं आने देना चाहिये कि मैं कैसी उच्च स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ, जिसके कारण बड़े-बड़े देवतालोग भी मेरा सत्कार करते हैं और मुझे अपने लोकोंमें बुलाते हैं; क्योंकि सङ्ग और अभिमान करनेसे साधकके पुनः संसारचक्रमें फँसनेका प्रसङ्ग (मौका) आ जाता है। अतः साधकको हर समय हरेक प्रकारके विघ्नसे खूब सावधान रहना चाहिये; यह भाव है॥ ५१॥

सम्बन्ध—*विवेकज्ञानकी उत्पत्तिका दूसरा उपाय बतलाते हैं—*

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्॥ ५२॥

क्षणतत्क्रमयोः=क्षण और उसके क्रममें; **संयमात्**=संयम करनेसे; **विवेकजम्**=विवेकजनित; **ज्ञानम्**=ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—कालका जो छोटे-से-छोटा हिस्सा है, जिससे छोटा विभाग हो ही नहीं सकता, उसे 'क्षण' कहते हैं; उसका जो एक क्षणके बाद दूसरे क्षणके प्रकट होनेका लगातार सिलसिला है, उसका नाम क्रम है। भाव यह है कि दो क्षण एक साथ नहीं रह सकते और दोनोंके बीचमें किसी औरका व्यवधान भी नहीं है, एकके पीछे दूसरे क्षणका सिलसिला चालू रहता है, इसीको 'क्रम' कहते हैं। अतः क्षण और उसके क्रममें संयम कर लेनेसे विवेकजन्य ज्ञान उत्पन्न हो जाता है॥ ५२॥

सम्बन्ध—*उस विवेकज्ञानका लक्षण कहते हैं—*

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः॥ ५३॥

जातिलक्षणदेशैः=(जिन वस्तुओंका) जाति, लक्षण और देशभेदसे; **अन्यतानवच्छेदात्**=भेद नहीं किया जा सकता, इस कारण; **तुल्ययोः**=जो दो वस्तुएँ तुल्य (एकके सदृश) प्रतीत होती हैं, उनके भेदकी; **प्रतिपत्तिः**=उपलब्धि; **ततः**=उस (विवेकज्ञान) से होती है।

व्याख्या—वस्तुओंका विवेचन करके उनका भेद समझानेके तीन

****

कारण हैं—(१) वस्तुकी जाति, (२) वस्तुका लक्षण अर्थात् वर्ण, आकृति आदि, (३) उसका देश अर्थात् स्थान—इन तीनोंके भेदसे वस्तुओंकी भिन्नताका विवेचन होता है, परंतु जिन दो वस्तुओंमें इनसे भेदकी उपलब्धि नहीं हो सके, उन एक-जैसी प्रतीत होनेवाली वस्तुओंके भेदको भी जो प्रत्यक्ष करा देनेवाला है, उनका नाम विवेक-ज्ञान है॥ ५३॥

सम्बन्ध—उस विवेक-ज्ञानकी विशेषताका वर्णन करते हैं—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्॥ ५४॥

तारकम्=जो संसार-समुद्रसे तारनेवाला है; **सर्वविषयम्**=सबको जाननेवाला है; **सर्वथाविषयम्**=सब प्रकारसे जाननेवाला है; **च**=और; **अक्रमम्**=बिना क्रमके (पूर्वापरके) जाननेवाला है; **इति**=इस प्रकार वह; **विवेकजम्**=विवेकजनित; **ज्ञानम्**=ज्ञान है।

व्याख्या—यह ज्ञान परवैराग्यको उत्पन्न करके योगीकी कैवल्य-अवस्थाका सम्पादन करनेमें हेतु है, इसलिये इसको तारक अर्थात् संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला कहा है। इसके द्वारा योगी समस्त वस्तुओंको सब प्रकारसे जान सकता है, इस कारण यह '**सर्वविषयम्**' और '**सर्वथाविषयम्**' कहलाता है। इसके द्वारा योगी हरेक वस्तुको बिना क्रमके एक साथ जान सकता है, इस कारण इसको '**अक्रमम्**' भी कहते हैं। यह ज्ञानकी अन्तिम अवस्था है, इससे ऊँची कोई स्थिति नहीं है। '**अक्रमम्**'का यह भी भाव समझना चाहिये कि यह क्रमसे रहित है, अर्थात् दूसरे ज्ञानोंकी भाँति परिवर्तनशील नहीं है। इसी ज्ञानको पहले पादके सोलहवें सूत्रमें 'पुरुष-ख्याति'के नामसे परवैराग्यका हेतु बतलाया है॥ ५४॥

सम्बन्ध—ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे विवेकज्ञान होनेपर ही कैवल्य हो, ऐसा नियम नहीं है। इसके सिवा दूसरे प्रकारसे भी विवेकज्ञान होकर कैवल्य प्राप्त हो सकता है। अतः उसके लिये जो बात अवश्य होनी चाहिये उसका वर्णन करते हैं—

****

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५५ ॥

सत्त्वपुरुषयोः=बुद्धि और पुरुष—इन दोनोंकी; **शुद्धिसाम्ये**=जब समानभावसे शुद्धि हो जाती है, तब; **कैवल्यम्**=कैवल्य होता है।

व्याख्या—इधर बुद्धि अत्यन्त निर्मल होकर अपने कारणमें विलीन होने लग जाती है और उधर पुरुषका जो बुद्धिके साथ अज्ञानकृत सम्बन्ध है, उसका और तज्जनित मल-विक्षेप-आवरणका अभाव होनेसे पुरुष भी निर्मल हो जाता है। इस प्रकार जब दोनोंकी समभावसे शुद्धि हो जाती है, तब कैवल्य होता है; वह चाहे किसी भी निमित्तसे किसी भी प्रकारसे क्यों न हो जाय ॥ ५५ ॥

═══ ★ ═══

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कैवल्यपाद—४

पहले पादमें प्रधानतासे समाधिके स्वरूपका वर्णन है, इस कारण उसे 'समाधिपाद' कहते हैं। दूसरेमें प्रधानतासे समाधिके साधनोंका वर्णन है, इस कारण उसे 'साधनपाद' कहते हैं। तीसरेमें प्रधानतासे समाधिद्वारा प्राप्त होनेवाली नाना प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन है, अतः उसे 'विभूतिपाद' कहते हैं। इन तीनों पादोंमें समाधिके वास्तविक फल (कैवल्य) का वर्णन प्रसङ्गानुसार हुआ है, किंतु विवेचनपूर्वक नहीं हुआ; अतः उसका अच्छी तरह वर्णन करनेके लिये यह चौथा पाद आरम्भ किया गया है, इसीलिये इसका नाम 'कैवल्यपाद' रखा गया है।

सम्बन्ध—*तीसरे पादमें जो नाना प्रकारकी सिद्धियाँ बतलायी गयी हैं, वे केवल समाधिसे ही होती हैं, ऐसी बात नहीं है, उनमें दूसरे भी निमित्त हो सकते हैं। अतः उनका वर्णन करते हैं—*

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः=जन्मसे होनेवाली, ओषधिसे होनेवाली, मन्त्रसे होनेवाली, तपसे होनेवाली और समाधिसे होनेवाली (ऐसे पाँच प्रकारकी); **सिद्धयः**=सिद्धियाँ होती हैं।

व्याख्या—शरीर, इन्द्रियों और चित्तमें परिवर्तन होनेपर जो पहलेकी अपेक्षा विलक्षण (अलौकिक) शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो जाता है, उसको सिद्धि कहते हैं। ये सिद्धियाँ पाँच कारणोंसे होती हैं। उनके भेद इस प्रकार हैं—

(१) जन्मसे होनेवाली सिद्धि—जब प्राणी मरकर एक योनिसे दूसरी योनिमें जाता है, तब उसके प्रारब्धानुसार शरीर, इन्द्रियों और चित्तका परिवर्तन होकर, उसमें अपूर्व शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो जाता है (योग० १।१९)। जैसे—

मनुष्ययोनिसे देवादि योनियोंकी प्राप्ति होनेसे शरीर, इन्द्रियों और चित्तमें अपूर्व शक्ति आ जाती है, इसे 'जन्मजा' सिद्धि कहते हैं। कपिल, वेदव्यास, शुकदेव आदि महर्षियोंमें कई प्रकारकी जन्मसे होनेवाली सिद्धियोंका वर्णन इतिहास और पुराणोंमें देखा जाता है। इसी तरह जन्मसे होनेवाली दूसरे प्रकारकी सिद्धियोंको भी समझ लेना चाहिये।

(२) ओषधिसे होनेवाली सिद्धि—मनुष्य जब किसी ओषधिके सेवनसे अपने शरीरका कल्प कर लेता है तब उससे भी शरीरमें अपूर्व शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसे 'ओषधिजा' सिद्धि कहते हैं। ओषधि (भौतिक पदार्थों) द्वारा किसी नेत्र आदि इन्द्रियोंमें अद्भुत शक्तिका प्रादुर्भाव भी इसीमें आ जाता है। ओषधिसे केवल मनुष्यके ही शरीर आदिका परिवर्तन होता हो, ऐसी बात नहीं है; वृक्ष, लता और पशु-पक्षी आदिमें भी अपूर्व शक्ति आ सकती है तथा विभिन्न भौतिक विकास हो सकता है।

(३) मन्त्रसे होनेवाली सिद्धि—जब मनुष्य विलक्षण सामर्थ्य प्राप्त करनेके लिये किसी मन्त्रका विधिवत् अनुष्ठान करता है, तब उससे भी शरीर, इन्द्रियों और चित्तमें विलक्षण शक्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है, इसे 'मन्त्रजा' सिद्धि कहते हैं (योग० २।४४)। इनका वर्णन वेदोंमें और तन्त्रशास्त्रोंमें विस्तारपूर्वक है।

(४) तपसे होनेवाली सिद्धि—जब मनुष्य शास्त्रोक्त तपका विधिवत् अनुष्ठान करता है, अथवा अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये भारी-से-भारी कष्ट सहर्ष सहन करता है, परंतु धर्मका त्याग नहीं करता, तब उस तपश्चर्यासे उसके शरीर, इन्द्रियों और चित्तके समस्त मल भस्म हो जाते हैं और उनमें अपूर्व शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो जाता है, इसे 'तपजा' सिद्धि कहते हैं (योग० २।४३)। इतिहासग्रन्थोंमें इसका बहुत जगह वर्णन है। भरद्वाज और विश्वामित्र आदि अनेक ऋषियोंने तपसे प्राप्त सिद्धियोंका प्रयोग करके भी दिखाया है।

(५) समाधिसे होनेवाली सिद्धि—धारणा, ध्यान और समाधिके अभ्याससे जो शरीर, इन्द्रियों और चित्तमें अपूर्व शक्तियोंका प्रादुर्भाव होता है इसे 'समाधिजा' सिद्धि कहते हैं। इसका वर्णन तीसरे पादमें विस्तारपूर्वक स्वयं सूत्रकारने किया ही है।

उपर्युक्त सिद्धियोंकी प्राप्तिमें जो शरीर, इन्द्रियों और चित्तका एक प्रकारसे दूसरे प्रकारमें बदल जाना है, यही परिणामान्तर है, अतः इसीको 'जाति-अन्तर-परिणाम' कहते हैं॥ १॥

सम्बन्ध—*उक्त 'जात्यन्तरपरिणाम' किस प्रकार कैसे होता है, यह बतलाते हैं—*

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्॥ २॥

जात्यन्तरपरिणामः=(यह) एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जानारूप जात्यन्तरपरिणाम; **प्रकृत्यापूरात्**=प्रकृतिके पूर्ण होनेसे होता है।

व्याख्या—उक्त जाति-अन्तर-परिणामरूप परिवर्तनके लिये अर्थात् उन-उन विलक्षण शक्तियोंके प्रकट होनेके लिये जिन-जिन प्रकृतियोंकी अर्थात् जिन-जिन उपादान-कारणरूप तत्त्वोंकी आवश्यकता है, उनकी पूर्तिसे शरीर, इन्द्रियों और चित्तका एक जातिसे दूसरी जातिमें परिवर्तन होता है॥ २॥

सम्बन्ध—*यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जन्म, ओषधि आदि निमित्त कारण-प्रकृतियोंकी पूर्णता कैसे कर देते हैं; क्या वे प्रकृतियोंके प्रयोजक (चलानेवाले) हैं? इसपर कहते हैं—*

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्॥ ३॥

निमित्तम्=निमित्त; **प्रकृतीनाम्**=प्रकृतियोंको; **अप्रयोजकम्**=चलानेवाला नहीं है; **ततः**=उससे; **तु**=तो (केवल); **क्षेत्रिकवत्**=किसानकी भाँति; **वरणभेदः**=रुकावटका छेदन किया जाता है।

व्याख्या—पहले बतलाये हुए जो जन्म, ओषधि आदि निमित्त कारण हैं, वे प्रकृतियोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें ले जानेवाले नहीं हैं, उनका काम

तो केवल रुकावटको दूर कर देनामात्र है, उसके बाद प्रकृतियोंकी पूर्ति तो अपने-आप हो जाती है। जैसे किसान एक खेतसे दूसरे खेतमें जल ले जाता है तो केवल उसकी रुकावटको ही दूर करता है, उस जलको चलानेका काम वह नहीं करता, रुकावट दूर होनेसे जल अपने-आप एक खेतसे दूसरे खेतमें चला जाता है, उसी प्रकार पहले बतलाये हुए जन्म आदि निमित्तोंद्वारा जब रुकावट दूर हो जाती है, तब शरीर, इन्द्रियाँ और चित्त—इन सबमें परिवर्तनके लिये जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है, उन-उनकी पूर्ति अपने-आप हो जाती है। रुकावट दूर होनेपर कमीको पूर्ण कर देना प्रकृतिका स्वभाव है ॥ ३ ॥

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

निर्माणचित्तानि=बनाये हुए चित्त; **अस्मितामात्रात्**=केवल अस्मितासे होते हैं।

व्याख्या—चित्तका उपादान कारण स्मिता है, अतः निमित्त यानी बनाये हुए सब चित्त केवल अस्मितासे ही उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

अनेकेषाम्=अनेक चितोंको; **प्रवृत्तिभेदे**=नाना प्रकारकी प्रवृत्तियोंमें; **प्रयोजकम्**=नियुक्त करनेवाला; **एकम्**=एक; **चित्तम्**=चित्त (होता) है।

व्याख्या—जैसे अपने शरीरमें भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंको भिन्न-भिन्न कामोंमें नियुक्त करनेवाला एक चित्त रहता है, उसी प्रकार उन बनाये हुए चित्तोंको भिन्न-भिन्न कामोंमें नियुक्त करनेवाला संचालक एक ही चित्त होता है, जो कि योगीका स्वाभाविक चित्त है* ॥ ५ ॥

---

* यहाँ चौथे और पाँचवें सूत्रका जो अर्थ भाष्यकार और टीकाकारोंने बतलाया है, उसके अनुसार छठे सूत्रकी सङ्गति ठीक नहीं बैठती, इस कारण टीकाकारोंने अगले सूत्रका सम्बन्ध प्रथम सूत्रसे जोड़ा है तथा चौथे और पाँचवें सूत्रसे जिस प्रकारसे अनेक निर्माणचित्तोंकी बात कही है, वह भी यहाँके प्रसङ्गानुकूल नहीं प्रतीत होती; अतः वास्तवमें सूत्रकारका यहाँ क्या कहना है, यह विचारणीय विषय है। मैंने तो इन सूत्रोंका केवल शब्दानुवादमात्र कर दिया है।

****

सम्बन्ध—*पहले सूत्रमें बतलाये हुए पाँच प्रकारके सिद्ध चित्तोंमेंसे समाधिद्वारा सिद्ध हुए चित्तकी विशेषताका वर्णन करते हैं—*

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

तत्र=उनमेंसे; **ध्यानजम्**=जो ध्यानजनित चित्त होता है, वह; **अनाशयम्**=कर्म-संस्कारोंसे रहित होता है।

व्याख्या—जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि—इन पाँच कारणोंसे शरीर, इन्द्रिय और चित्तका विलक्षण परिणाम होता है—यह बात पहले कही गयी। उन पाँच प्रकारसे उत्कर्षताको प्राप्त हुए चित्तोंमेंसे जो चित्त ध्यानसे उत्पन्न होता है अर्थात् समाधिद्वारा विलक्षण शक्तिवाला होता है, वह कर्मसंस्कारोंसे रहित होता है, अतः वही कैवल्यका हेतु हो सकता है, दूसरे जन्म, औषध आदिके द्वारा विलक्षण शक्तियुक्त चित्तोंमें कर्मोंकि संस्कार रहते हैं, इस कारण वे कैवल्यके हेतु नहीं हो सकते ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—*अब कर्माशयशून्य सिद्ध योगीके कर्मोंकी विलक्षणताका प्रतिपादन करते हैं—*

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

योगिनः=योगीके; **कर्म**=कर्म; **अशुक्लाकृष्णम्**=अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं (तथा); **इतरेषाम्**=दूसरोंके; **त्रिविधम्**=तीन प्रकारके होते हैं।

व्याख्या—शुक्लकर्म उन कर्मोंको कहते हैं, जिनका फल सुखभोग होता है और कृष्णकर्म उनको कहते हैं, जो नरक आदि दुःखोंके कारण हैं अर्थात् पुण्यकर्मोंका नाम शुक्लकर्म है और पापकर्मोंका नाम कृष्णकर्म है, सिद्ध योगीके कर्म किसी प्रकारका भी भोग देनेवाले नहीं होते, क्योंकि उसका चित्त कर्मसंस्कारोंसे शून्य होता है यह बात पहले कह चुके हैं, इसलिये उन कर्मोंको अशुक्ल और अकृष्ण कहते हैं। योगीके सिवा साधारण मनुष्योंके कर्म तीन प्रकारके होते हैं—(१) शुक्ल अर्थात् पुण्यकर्म, (२) कृष्ण

****

अर्थात् पापकर्म और (३) शुक्लकृष्ण अर्थात् पुण्य और पाप मिले हुए ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—*अब साधारण मनुष्योंके उन तीन प्रकारके कर्मोंका भोग किस प्रकार होता है, यह बतलाते हैं—*

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

ततः=उन (तीन प्रकारके कर्मों) से; **तद्विपाकानुगुणानाम्**=उनके फलभोगानुकूल; **वासनानाम्**=वासनाओंकी; **एव**=ही; **अभिव्यक्तिः**= अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) होती है।

व्याख्या—योग-साधनोंके द्वारा जिनका चित शुद्ध नहीं हुआ है, उन साधारण मनुष्योंके कर्म संस्काररूपसे अन्तःकरणमें संगृहीत (इकट्ठे हुए) रहते हैं, अतः उन कर्मोंमेंसे जो कर्म जिस समय फल-भोग करानेके लिये तैयार होता है, उस समय उस कर्मका जैसा फल होनेवाला है, वैसी ही वासना उत्पन्न होती है, अन्य कर्मोंकि फलभोगकी नहीं ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—*कर्मसंस्कार तो अनेक जन्मोंके अनन्त होते हैं, उनमें देश, काल और जन्म-जन्मान्तरका अन्तर पड़ जाता है, इस स्थितिमें वर्तमान जन्मके अनुरूप फलभोगकी वासनाएँ कैसे उत्पन्न होती हैं, इसपर कहते हैं—*

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयो-रेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानाम्=जाति, देश और काल—इन तीनोंका व्यवधान रहनेपर; **अपि**=भी; **आनन्तर्यम्**=कर्मके संस्कारोंमें व्यवधान नहीं होता है; **स्मृतिसंस्कारयोः**=क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनोंका; **एकरूपत्वात्**=एक ही स्वरूप होता है।

व्याख्या—कोई कर्म किसी एक जन्ममें किया गया है और कोई कर्म किसी दूसरे जन्ममें किया गया है, यह उन कर्मोंमें जन्मका व्यवधान है। इसी तरह भिन्न-भिन्न कर्मोंमें देश और कालका भी व्यवधान होता है। इस प्रकार

जन्म, देश और कालका व्यवधान होते हुए भी जिस कर्मका फल प्राप्त होनेवाला है; उसके अनुसार भोगवासना उत्पन्न होनेमें कोई अड़चन नहीं पड़ती, क्योंकि स्मृति और संस्कार—ये दोनों एक ही हैं। जिस कर्मफलका उत्पादक निमित्त कारण आ जाता है, वैसी ही वासना प्रकट हो जाती है। यदि किसीको उसके पूर्वजन्मके कर्मका फल भोगनेके लिये गौकी योनि मिलनेवाली है, तो उसने गौकी योनि जब कभी पायी है, उसकी वासना प्रकट हो जायगी। भाव यह कि चाहे उस जन्मके बाद दूसरे कितने ही जन्म बीत चुके हों, कितना ही समय बीत चुका हो और वह किसी भी देशमें हुआ हो, उसकी वासना स्फुरित हो जायगी। स्मृति और संस्कारोंकी एकता होनेके कारण जो फल मिलता है, उसके अनुकूल भोगवासना यानी स्मृति पैदा हो जाती है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—*यहाँतक शंका होती है कि जब वासनाओंके अनुसार ही जन्म होता है और कर्मोंके अनुसार वासना होती है, तब सबसे पहले जन्म देनेवाली वासना कहाँसे आयी? इसपर कहते हैं—*

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

तासाम्=उन वासनाओंकी; **अनादित्वम्**=अनादिता है; **आशिषः नित्यत्वात्**=क्योंकि प्राणीमें (अपने) बने रहनेकी इच्छा नित्य अर्थात् अनादिकालसे; **च**=ही है।

व्याख्या—प्रत्येक प्राणीको जीवनकी इच्छा नित्य बनी रहती है, मृत्युका भय तुरंत जन्मे हुए क्षुद्र-से-क्षुद्र जीवोंमें भी देखा जाता है, इससे पूर्वजन्मकी सिद्धि होती है। उस जन्ममें भी मरणभयकी व्याप्ति होनेसे जन्म-जन्मान्तरकी परम्परा अनादि सिद्ध हो जाती है। अतएव वासनाओंका अनादित्व भी अपने-आप सिद्ध हो जाता है ॥ १० ॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार यदि वासनाएँ अनादि हैं, तब तो इनका अभाव भी नहीं होता होगा, फिर पुरुषकी मुक्ति कैसे होगी? इसपर कहते हैं—*

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः=हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन, इनसे; **संगृहीतत्वात्**=वासनाओंका संग्रह होता है, इसलिये; **एषाम्**=इन (चारों) का; **अभावे**=अभाव होनेसे; **तदभावः**=उन (वासनाओं) का भी (सर्वथा) अभाव हो जाता है।

व्याख्या—वासनाओंका हेतु अविद्यादि क्लेश और उनके रहते हुए होनेवाले कर्म हैं। इनका फल पुनर्जन्म, आयु और भोग है। आश्रय चित्त है और शब्दादि विषय आलम्बन हैं। वासनाएँ इनके सम्बन्धसे ही संगृहीत हो रही हैं। जब योगसाधनोंसे इनका अभाव हो जाता है अर्थात् जब विवेकज्ञानसे अविद्याका नाश हो जाता है (योग० ४। ३०) तब कर्मोंमें फल देनेकी सामर्थ्य नहीं रहती, चित्त अपने कारणमें विलीन हो जाता है (योग० ४। ३४)। उपर्युक्त साधनोंके न रहनेसे विषयोंके साथ पुरुषका सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन—इन चारोंका अभाव होनेसे वासनाओंका भाव अपने-आप हो जाता है, अतः योगीका पुनर्जन्म नहीं होता॥ ११॥

सम्बन्ध—*यदि सत् वस्तुका कभी अभाव होता ही नहीं तब वासनाओंका और उनके हेतु आदिका नाश होना कैसे सम्भव है। इसपर कहते हैं—*

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्॥ १२॥

धर्माणाम्=धर्मोंमें, **अध्वभेदात्**=कालका भेद होता है, इस कारण; **अतीतानागतम्**=जो धर्म (अविद्या, वासना, चित्त और चित्तकी वृत्तियाँ आदि) अतीत हो गये हैं और जो अनागत हैं—अभी प्रकट नहीं हुए हैं, वे भी; **स्वरूपतोऽस्ति**=स्वरूपसे विद्यमान रहते हैं।

व्याख्या—वस्तुका वास्तवमें अभाव कभी नहीं होता, वस्तुके धर्म चित्त और वासना आदि कुछ अनागत स्थितिमें रहते हैं, कुछ वर्तमान स्थितिमें और कुछ अतीत स्थितिमें। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि जो वर्तमान हैं, उन्हींकी सत्ता है दूसरोंकी नहीं, क्योंकि उनका स्वरूपसे अभाव नहीं होता है।

अतीत और अनागत-अवस्थामें वे अपने कारणोंमें रहते हैं, व्यक्त नहीं रहते। यह अपने कारणमें विलीन हो जाना ही उनका नाश या अभाव है (योग० ३। १३)। योगीका उन वासनादिके साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, अतः वे योगीके पुनर्जन्ममें हेतु नहीं बन सकते॥ १२॥

सम्बन्ध—*धर्मोंका असली स्वरूप क्या है? सो बतलाते हैं—*

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

ते=वे (समस्त धर्म); **व्यक्तसूक्ष्माः**=व्यक्त स्थितिमें और सूक्ष्म स्थितिमें (सदैव); **गुणात्मानः**=गुणस्वरूप ही हैं।

व्याख्या—वे धर्म जिस समय वर्तमान हैं, उस समय भी अपने कारणरूप गुणोंसे भिन्न नहीं हैं तथा जिस समय अनागत और अतीत—इन दोनों प्रकारकी सूक्ष्म स्थितिमें हैं, तब भी गुणस्वरूप ही हैं; क्योंकि गुण उन धर्मरूप समस्त भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें धर्मी (कारण) रूपसे सदैव अनुगत रहते हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता, अतः वास्तवमें किसी भी वस्तुकी सत्ताका अभाव नहीं है। गुणस्वरूपसे वह सदैव विद्यमान है, परन्तु परिणामशील होनेके कारण उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है॥ १३॥

सम्बन्ध—*यदि गुणोंका कार्य होनेसे वास्तवमें सब कुछ गुणस्वरूप ही है तो फिर भिन्न-भिन्न स्वभाववाले तीनों गुणोंसे एक-एक वस्तुकी उत्पत्ति कैसे हो जाती है, हरेकसे अलग-अलग वस्तुएँ होनी चाहिये थीं? इसपर कहते हैं—*

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

परिणामैकत्वात्=परिणामकी एकतासे; **वस्तुतत्त्वम्**=वस्तुका वैसा होना सम्भव है।

व्याख्या—परन्तु भिन्न स्वभाववाले गुणोंका जब एक परिणाम होता है, सब मिल-जुलकर जब किसी एक वस्तुके रूपमें परिणत होते हैं, तब वैसा होनेमें कोई विरोध नहीं है। भिन्न-भिन्न वस्तुओंके एक परिणामसे एक

वस्तुका प्रकट होना प्रत्यक्ष देखनेमें भी आता है। जैसे पृथ्वी और जल मिलकर सूर्य और चन्द्रमाकी रश्मियोंके सम्बन्धसे वृक्षके रूपमें परिणत हो जाते हैं और उसमें फिर नाना जाति, नाना आकार और नाना व्यक्तित्वका भेद हो जाता है परन्तु वस्तुतः वे अपने धर्मियोंसे सर्वथा अभिन्न हैं, उसी प्रकार सब वस्तुएँ गुणस्वरूप ही हैं, उनसे भिन्न नहीं हैं॥ १४॥

सम्बन्ध—*जो लोग यह मानते हैं कि दृश्य कोई वस्तु नहीं है वासनाके बलसे चित्त ही दृश्यरूपमें प्रतीत होने लग जाता है, उनकी मान्यता गलत है, क्योंकि—*

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

वस्तुसाम्ये=वस्तुकी एकतामें (भी), **चित्तभेदात्**=चित्तका भेद प्रत्यक्ष है, इसलिये; **तयोः**=(चित्त और उसके द्वारा देखी जानेवाली वस्तु) इन दोनोंका; **पन्थाः**= मार्ग; **विभक्तः**=अलग-अलग है।

व्याख्या—एक ही वस्तुमें मनुष्योंके चित्तोंकी वृत्तियाँ अलग-अलग होती हैं अर्थात् अनेक चित्तोंका विषय वह एक ही वस्तु विभिन्न प्रकारसे बनती है, यह प्रत्यक्ष है। इस परिस्थितिमें यदि वस्तु किसी एक चित्तकी कल्पनामात्र मानी जाय तो वह अनेक चित्तोंका विषय नहीं बन सकती। अतः सबको उसका स्वरूप नहीं दीखना चाहिये था, परंतु ऐसा नहीं होता, वह सबको ही दीखती है। इसके सिवा यदि उसको अनेक चित्तोंकी कल्पना मानी जाय, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वह वस्तु भिन्न-भिन्न कालमें अनेक चित्तोंका विषय बनती हुई देखी जाती है। इस परिस्थितिमें वह कौन-से अनेक चित्तोंकी कल्पना मानी जायगी? अतएव वस्तुकी एकता और उसे विषय करनेवाले चित्तोंकी अनेकता होनेके कारण दोनों अलग-अलग पदार्थ हैं— यह मान्यता ही समीचीन है॥ १५॥

सम्बन्ध—*पुनः पूर्वपक्षका खण्डन करनेके लिये दूसरा सूत्र कहते हैं—*

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

च=इसके सिवा; **वस्तु**=दृश्य वस्तु; **एकचित्ततन्त्रम्**=किसी एक चित्तके अधीन; **न**=नहीं है (क्योंकि); **तदप्रमाणकम्**=जब वह चित्तका विषय नहीं रहेगी; **तदा**=उस समय; **किं स्यात्**=वस्तुका क्या होगा ?

व्याख्या—इसके सिवा विद्यमान दृश्य वस्तु किसी एक चित्तके अधीन नहीं है, इसलिये भी कल्पनामात्र नहीं है, क्योंकि यदि कल्पनामात्र मानी जाय तो जब वह चित्त उसको विषय करना (देखना) छोड़ दे, उस समय वह नहीं रहनी चाहिये। परंतु ऐसा नहीं होता, वस्तु वैसी-की-वैसी ही विद्यमान रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि दीखनेवाली वस्तु किसी एक चित्तके अधीन नहीं है तथा दृश्य वस्तु चित्तसे भिन्न है और वह सच्ची है॥ १६॥

सम्बन्ध—*यदि बाहरकी दृश्य वस्तु अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती है तो वह कभी दीखती है और कभी नहीं दीखती, इसमें क्या कारण है इसपर कहते हैं—*

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्॥ १७॥

चित्तस्य=चित्त; **तदुपरागापेक्षित्वात्**=वस्तुके उपराग (अपनेमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ने) की अपेक्षावाला है, इस कारण (उसके द्वारा); **वस्तु**=वस्तु; **ज्ञाताज्ञातम्**=कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती है यह सर्वथा उचित है।

व्याख्या—इन्द्रियोंकी समीपतासे जिस पदार्थकी चित्तमें परछाईं पड़ती है, उसी वस्तुको चित्त जान सकता है, अन्य वस्तुको नहीं। उसे वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेमें उसके उपराम (परछाईं प्रतिबिम्ब) की अपेक्षा है। अतः जब जिस वस्तुका उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, यानी इन्द्रियोंके द्वारा चित्तसे जब जिस वस्तुका सम्बन्ध होता है, उस समय वह वस्तु उसके ज्ञात है और जिस समय वह उसकी वृत्तिका विषय नहीं बनती अर्थात् चित्तमें उपरञ्जित नहीं होती, उस समय अज्ञात है॥ १७॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार दृश्य वस्तुओंसे चित्तकी भिन्न सत्ता सिद्ध करके अब द्रष्टा पुरुषसे भी चित्तकी भिन्न सत्ता सिद्ध करते हैं—*

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्॥ १८॥

तत्प्रभोः=उस (चित्त) का स्वामी; **पुरुषस्य**=पुरुष; **अपरिणामित्वात्**=परिणामी नहीं है, इसलिये; **चित्तवृत्तयः**=चित्तकी वृत्तियाँ (उसे); **सदा ज्ञाताः**=सदा ज्ञात रहती हैं।

व्याख्या—चित्त तो परिणामी है, इस कारण वह बाहरकी वस्तुओंको सदा नहीं देख सकता। जब जिस वस्तुका उसके साथ सम्बन्ध होता है, तभी उसे देखता है। किंतु उस चित्तका स्वामी जो पुरुष है वह अपरिणामी है। इस कारण वह चित्तकी वृत्तियोंको सदैव देखता रहता है। जिस समय जो वृत्ति चित्तमें उत्पन्न होती है और जो शान्त होती है, वे सभी उसे विदित रहती हैं॥ १८॥

सम्बन्ध—*चित्त जिस प्रकार वस्तुका प्रकाशक है, उसी प्रकार अपना भी है। फिर चित्तसे भिन्न दूसरेको द्रष्टा माननेकी क्या आवश्यकता है। इसपर कहते हैं—*

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्॥ १९॥

तत्=वह (चित्त); **स्वाभासम्**=स्वप्रकाश (प्रकाशस्वरूप); **न**=नहीं है; **दृश्यत्वात्**=क्योंकि वह दृश्य है।

व्याख्या—चित्त दृश्य है, इसलिये जड है। वह स्वप्रकाश यानी अपने-आपको जाननेवाला—प्रकाशस्वरूप नहीं है, उसमें जो चेतनता दिखलायी देती है, जिसके कारण वह किसी अंशमें चेतन कहा जाता है, वह चेतना उसमें चेतन पुरुषका प्रतिबिम्ब पड़नेसे है। जब चित्तमें बाह्य वस्तुएँ और चेतन पुरुष—इन दोनोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस समय पुरुष चित्तकी वृत्तियोंके रूपमें तद्रूप-सा हुआ रहता है (योग० १।४) और चित्त चेतन-सा प्रतीत होने लगता है; परंतु वास्तवमें जैसे इन्द्रियाँ और शब्द आदि विषय दृश्य होनेके कारण स्वप्रकाश नहीं हैं, उसी प्रकार चित्त भी दृश्य होनेके कारण स्वप्रकाश नहीं है॥ १९॥

सम्बन्ध—*चित्तको स्वप्रकाश माननेमें दूसरा दोष दिखाते हैं—*

एकसमये चोभयानवधारणम्॥ २०॥

च=तथा; **एकसमये**=एक कालमें; **उभयानवधारणम्**=(चित्त और उसका विषय)—इन दोनोंके स्वरूपको जानना भी नहीं हो सकता।

व्याख्या—बाहरके पदार्थका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब द्रष्टा पुरुषको उस प्रतिबिम्बसहित चित्तका ज्ञान होना युक्तियुक्त है; क्योंकि वह अपरिणामी है। परंतु चित्त अपने स्वरूपको और दृश्य पदार्थके स्वरूपको एक साथ ही नहीं जान सकता; क्योंकि परिणामशील होनेके कारण उसे एक ही कालमें दो ज्ञान नहीं हो सकते। अतः यही समझना चाहिये कि चित्त स्वप्रकाश नहीं है। चित्तका काम केवल बाह्य पदार्थके स्वरूपको अपने स्वामी द्रष्टा पुरुषके सामने रख देना है; फिर उसे जाननेका काम तो पुरुषका है॥ २०॥

सम्बन्ध—*चित्तसे विषयका साक्षात्कार होता है और वह चित्त उस विषयसहित दूसरे चित्तसे देखा जाता है। इस प्रकार चित्तका और विषयका एक साथ ज्ञान हो जाता है। यह मान लिया जाय तो क्या हानि है। इसपर कहते हैं—*

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च॥ २१॥

चित्तान्तरदृश्ये=एक चित्तको दूसरे चित्तका दृश्य मान लेनेपर; **बुद्धिबुद्धेः अतिप्रसङ्गः**=वह चित्त फिर दूसरे चित्तका दृश्य होगा—इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होगी; **च**=और; **स्मृतिसंकरः**=स्मृतिका भी मिश्रण हो जायगा।

व्याख्या—इस प्रकार एक चित्तको दूसरे चित्तका दृश्य मान लेनेसे एक तो अनवस्था दोष आता है, दूसरे स्मृतिके संकर हो जानेका दोष आता है; क्योंकि एक चित्तने तो किसी विषयको जाना, दूसरेने उस विषयसहित चित्तको जाना, इसी प्रकार दूसरेको तीसरेने, तीसरेको चौथेने इस तरह चलते रहनेपर तो एक वस्तुका ज्ञान भी कभी समाप्त नहीं होगा, यह अनवस्था दोष आयेगा और उन अनेक ज्ञानोंकी एक साथ स्मृति होनेपर यह निर्णय नहीं हो सकेगा कि कौन-से ज्ञानका क्या स्वरूप है, स्मृतिका मिश्रण हो जायगा, सो यह किसीके अनुभवकी बात नहीं है, सब कोई ऐसा ही स्मरण करते हैं कि अमुक पदार्थको मैंने जाना था। ऐसा कोई नहीं कहता कि अमुक पदार्थको, उसके

****

ज्ञानको, फिर उसके ज्ञानसहित ज्ञानको, फिर उसके भी ज्ञानसहित ज्ञानको मैंने जाना था—इत्यादि। अतः चित्तसे भिन्न द्रष्टाको मानना ही युक्तिसङ्गत है॥ २१॥

सम्बन्ध—*चित्त स्वप्रकाश भी नहीं है और दूसरे चित्तका विषय भी नहीं है तो फिर यह बतलाना चाहिये कि चित्तका द्रष्टा कौन है, क्योंकि पुरुष तो असङ्ग और निर्विकार है, वह किसीका द्रष्टा और भोक्ता कैसे हो सकता है। इसपर कहते हैं—*

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्॥ २२॥

चितेः अप्रतिसंक्रमायाः=यद्यपि चेतन-शक्ति (पुरुष) क्रियासे रहित और असङ्ग है, तो भी; **तदाकारापत्तौ**=तदाकार हो जानेपर; **स्वबुद्धिसंवेदनम्**=(उसे) अपनी बुद्धिका (चित्तका) ज्ञान होता है।

व्याख्या—चेतन पुरुष निर्विकार, अपरिणामी, क्रियाशून्य और असङ्ग है, इसमें कोई संदेह नहीं; परंतु विकारशील नाना प्रकारके दृश्य पदार्थोंके प्रतिबिम्बसे तदाकार हुए चित्तके सम्बन्धमें जब वह चित्तके आकारवाला-सा हो जाता है (योग० १।४), उस समय उसे वृत्तियोंसहित बुद्धिका ज्ञान होता है। अतः उसे अपनी बुद्धि और बुद्धिकी वृत्तियोंका ज्ञाता और भोक्ता कहा जाता है। वास्तवमें तो पुरुष न ज्ञाता ही है और न भोक्ता ही, वह तो सर्वथा निर्विकार, असङ्ग और स्वप्रकाश चेतनमात्र है (योग० २।२०)। भाव यह है कि चेतनके उपरागसे उपरञ्जित हुई बुद्धिका केवल अनुकरण करनेवाला-सा होनेके कारण ही चेतनको ज्ञाता कहा जाता है॥ २२॥

सम्बन्ध—*ऐसा किस कारणसे होता है? यह बतलाते हैं—*

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥ २३॥

द्रष्टृदृश्योपरक्तम्=द्रष्टा और दृश्य—इन दोनोंसे रँगा हुआ; **चित्तम्**=चित्त; **सर्वार्थम्**=सब अर्थवाला हो जाता है।

व्याख्या—यह चित्त जब दृश्य पदार्थसे रँगा हुआ; अपने स्वरूपके

सहित द्रष्टाका विषय (दृश्य) बनकर उससे सम्बन्धित होता है, तब द्रष्टा और दृश्य—इन दोनोंके रंगमें रँग जाता है अर्थात् उन दोनोंका प्रतिबिम्ब इसमें पड़नेके कारण यह दोनोंका आकार धारण कर लेता है और इसका निजी रूप भी वर्तमान रहता ही है, इस कारण यह चित्त ही सब अर्थवाला हो जाता है यानी दृश्य पदार्थके रूपवाला, द्रष्टा पुरुषके रूपवाला और अपने रूपवाला—इस प्रकार सर्वरूपवाला हो जाता है।

इसे इस प्रकार समझना चाहिये—

(१) चित्ततत्त्व या बुद्धितत्त्व जो कुछ कहिये—यह तीनों गुणोंका पहला और सात्त्विक परिणाम है। यह क्रियाशील, परिणामी और जड है किंतु सात्त्विक होनेके कारण स्फटिकमणिकी भाँति उज्ज्वल है; यह चित्तका अपना रूप है।

(२) इसके सामने जिस समय जैसा बाह्य पदार्थ आता है अर्थात् जिस पदार्थका सम्बन्ध होता है, उसके रंगमें रँगा हुआ यह तदाकार हो जाता है, इसलिये पदार्थके रूपमें प्रतीत होता है।

(३) पुरुषके साथ सम्बन्ध होनेके कारण वह द्रष्टा चेतन पुरुषके रंगमें रँगा हुआ रहता है, इसलिये यह तदाकार हुआ चेतनके रूपमें प्रतीत होने लगता है।

वास्तवमें चित्त उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाले विषयोंसे और चेतन पुरुषसे सर्वथा भिन्न है तो भी भ्रान्तिसे उनके रूपमें प्रतीत होने लग जाता है। अतएव कई दर्शनकार तो चित्तको ही चेतन—द्रष्टा मानकर कहने लगते हैं कि चित्तसे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है और दूसरे यह कहते हैं कि चित्तसे अतिरिक्त ये दीखनेवाले गौ, घट आदि और उसके कारणरूप पञ्चभूत आदि पदार्थ भी कुछ नहीं हैं, चित्त ही सब रूप होकर दिखलायी देता है। परंतु यह भ्रम समाधिके द्वारा पुरुषकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जानेपर नष्ट हो जाता है॥ २३॥

सम्बन्ध—अब चित्तसे भिन्न द्रष्टा पुरुषकी सत्ताको दृढ़ करनेके लिये दूसरा हेतु बतलाते हैं—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

तत्=वह (चित्त); **असंख्येयवासनाभिः**=असंख्येय वासनाओंसे; **चित्रम् अपि**=चित्रित होनेपर भी; **परार्थम्**=दूसरेके लिये है; **संहत्यकारित्वात्**=क्योंकि यह संहत्यकारी (मिल-जुलकर कार्य करनेवाला) है।

व्याख्या—जो वस्तु बहुत पदार्थोंसे मिल-जुलकर कार्यमें समर्थ होती है; वह संहत्यकारी कहलाती है—जैसे मकान, भोजन आदि। ऐसी वस्तु अपनेसे भिन्न किसी दूसरेके लिये ही हुआ करती है, अपने लिये नहीं; अतः यह परार्थ कहलाती है। यह चित्त भी सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके मिश्रणसे उत्पन्न है तथा बाह्य पदार्थ और इन्द्रियोंके संयोगमें उनसे मिल-जुलकर कार्य करनेमें समर्थ होता है; अतः यह अपने लिये नहीं है, द्रष्टा पुरुषके लिये है तथा उसीके भोग और अपवर्गका सम्पादन करनेके लिये यह नाना वासनाओंसे चित्रित है।

भाव यह है कि यद्यपि चित्तमें ही सब बाह्य पदार्थोंके चित्र पड़ते हैं और वह अगणित वासनाओंसे रँगा हुआ है तो भी वह स्वयं-प्रकाश और द्रष्टा नहीं है; क्योंकि वह बाह्य पदार्थ और इन्द्रिय आदिसे मिल-जुलकर काम करनेवाला है, अतः दूसरेके लिये है ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—यहाँतक चित्त और आत्मा—इन दोनोंकी भिन्नताका युक्तियोंद्वारा प्रतिपादन किया; किन्तु युक्तियोंसे तो आत्माका स्वरूप सामान्यभावसे ही समझमें आता है, उसके स्वरूपका विशेष ज्ञान तो समाधिद्वारा ही हो सकता है। अतः समाधिमें होनेवाले विवेक-ज्ञानद्वारा जब योगी आत्मस्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है, तब उसकी क्या पहचान है ? यह बतलाते हैं—

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

****

विशेषदर्शिनः=(समाधिजनित विवेकज्ञानके द्वारा) चित्त और आत्माके भेदको प्रत्यक्ष कर लेनेवाले (योगी) की; **आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः**= आत्मभावविषयक भावना सर्वथा निवृत्त हो जाती है।

व्याख्या—अपने स्वरूपको जाननेके लिये जो इस प्रकारके संकल्प होते हैं कि मैं कौन हूँ, कैसा हूँ—इत्यादि, इसका नाम आत्मभाव भावना अर्थात् आत्मज्ञानके विषयका चिन्तन है। यह जबतक मनुष्यको आत्माके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता, तबतक ऊँचे-से-ऊँचे साधकमें भी विद्यमान रहती है। परंतु जिसने विवेक-ज्ञानद्वारा इस भेदको भलीभाँति समझ लिया है कि शरीर और चित्त आदिसे आत्मा भिन्न है, जिसे अपने स्वरूपका संशयरहित प्रत्यक्ष अनुभव हो गया है, उसकी उपर्युक्त आत्मभावभावना सर्वथा मिट जाती है। यही उसकी पहचान है॥ २५॥

सम्बन्ध—*उस समय उस योगीके चित्तकी कैसी स्थिति रहती है? यह बतलाते हैं—*

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥ २६॥

तदा=उस समय (योगीका); **चित्तम्**=चित्त; **विवेकनिम्नम्**=विवेकमें झुका हुआ; **कैवल्यप्राग्भारम्**=कैवल्यके अभिमुख हो जाता है।

व्याख्या—अज्ञान-अवस्थामें साधारण मनुष्योंका चित्त अज्ञानमें निमग्न और विषय-परायण अर्थात् विषयोंके अभिमुख रहता है। परंतु जब विवेकज्ञानका उदय हो जाता है, उस समय योगीका चित्त निःसार संसारके विषयोंकी ओर नहीं जाता, उनसे सर्वथा विरक्त हो जाता है और उस विवेकज्ञानमें निरन्तर बहता है तथा कैवल्यके अभिमुख हो जाता है यानी अपने कारणमें विलीन होना आरम्भ कर देता है; क्योंकि चित्तका अपने कारणमें विलीन हो जाना और द्रष्टा-स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना—यही कैवल्य है (योग० ४। ३४)॥ २६॥

सम्बन्ध—*यदि योगीका चित्त विवेकज्ञानमें झुका हुआ रहता है तथा अपने कारणमें विलीन होने लगता है तो फिर व्युत्थान-अवस्थामें उसकी दूसरी वृत्तियाँ कैसी होती होंगी? इसपर कहते हैं—*

****

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

तच्छिद्रेषु=उस (समाधि) के अन्तरालमें; **प्रत्ययान्तराणि**=दूसरे पदार्थोंका ज्ञान; **संस्कारेभ्यः**=पूर्वसंस्कारोंसे होता है।

व्याख्या—विवेकज्ञानमें निमग्न हुए चित्तमें व्युत्थान-अवस्थाओंके समय जो अन्य वस्तुओंकी प्रतीतिका व्यवहार देखनेमें आता है, वह दग्ध-बीजके सदृश विद्यमान पूर्वसंस्कारोंसे देखनेमें आता है॥ २७॥

सम्बन्ध—उन संस्कारोंका सर्वथा नाश कब और कैसे होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

एषाम्=इन संस्कारोंका; **हानम्**=विनाश; **क्लेशवत्**=क्लेशोंकी भाँति; **उक्तम्**=कहा गया है।

व्याख्या—दग्ध हुए बीजके सदृश जो सूक्ष्म क्लेश हैं, उनका अभाव जैसे प्रतिप्रसवसे अर्थात् कारणमें कार्यके लयसे बतलाया है (योग० २। १०), उसी प्रकार इनका भी समझ लेना चाहिये। जबतक किसी भी परिस्थितिमें चित्त वर्तमान है, तबतक संस्कारोंका सर्वथा नाश नहीं होता; उनका नाश तो चित्तके अपने कारण गुणोंमें विलीन होनेपर उसके साथ ही होता है, परंतु भूने हुए बीजके सदृश ज्ञानरूप अग्निसे जलाये हुए संस्कार विद्यमान रहकर भी पुनर्जन्मके हेतु नहीं बन सकते। अतः उनके कारण होनेवाला पदार्थोंका ज्ञान नये संस्कारोंका उत्पादक नहीं है (योग० ४। ६) ॥ २८॥

सम्बन्ध—विवेकज्ञान प्राप्त होनेके बाद क्या होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

प्रसंख्याने अपि अकुसीदस्य=जिस योगीका विवेकज्ञानकी महिमामें भी वैराग्य हो जाता है, उसका; **सर्वथा विवेकख्यातेः**=विवेकज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहनेके कारण उसको; **धर्ममेघः समाधिः**=धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या—जब विवेकज्ञान उदय होता है, तब योगीके चित्तमें अत्यन्त स्वच्छता आ जाती है, अतः उसमें विलक्षण शक्ति आ जाती है, उस समय योगी सर्वज्ञ हो जाता है (योग० ३ । ४९) । ऐसी सामर्थ्य प्राप्त होनेपर भी जो योगी उस सामर्थ्यका उपभोग नहीं करता, सर्वज्ञतारूप ऐश्वर्यमें आसक्त नहीं होता, उससे सर्वथा विरक्त हो जाता है, तब उसके विवेकज्ञानमें किसी प्रकारका अन्तराय (विघ्न) नहीं पड़ सकता, वह निरन्तर उदित (प्रकाशमान) रहता है, इसलिये, तत्काल ही उस योगीको धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है ॥ २९ ॥

सम्बन्ध—*उस धर्ममेघ समाधिसे क्या होता है, इसपर कहते हैं—*

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

ततः=उस (धर्ममेघ समाधि) से; **क्लेशकर्मनिवृत्तिः**=क्लेश और कर्मोंका सर्वथा नाश हो जाता है।

व्याख्या—उक्त प्रकारसे जब योगीकी धर्ममेघ समाधि सिद्ध हो जाती है, तब उस योगीके अविद्यादि पाँचों क्लेश तथा शुक्ल, कृष्ण और मिश्रित—ऐसे तीनों प्रकारके कर्मसंस्कार समूल नष्ट हो जाते हैं। अतः वह योगी जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—*उस समय योगीके ज्ञानका क्या स्वरूप होता है ? यह बतलाते हैं—*

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

तदा=उस समय; **सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्य**=जिसके सब प्रकारके परदे और मल हट चुके हैं, ऐसा ज्ञान; **आनन्त्यात्**=अनन्त (सीमारहित) हो जाता है, इस कारण; **ज्ञेयम् अल्पम्**=ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाते हैं।

व्याख्या—विवेक-ज्ञानकी प्राप्तिके पहले ज्ञानको सीमाबद्ध करनेवाले जितने भी अविद्या आदि परदे रहते हैं एवं उसमें जितना भी कर्म-संस्काररूपमें संग्रह किया हुआ मल रहता है, वे सब-के-सब उपर्युक्त धर्ममेघ समाधिमें नष्ट हो जाते हैं। इस कारण योगीका ज्ञान अनन्त—सीमारहित हो जाता है,

तब दुनियाके जितने भी ज्ञेय पदार्थ हैं, वे ऐसे अल्प हो आते हैं, जिस प्रकार आकाशमें जुगनू (खद्योत), उस समय उस सिद्ध और मुक्त योगीसे कोई भी तत्त्व अज्ञात नहीं रह सकता ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—*यहाँ यह प्रश्न उठता है कि तीनों गुण परिणामशील हैं; अतः उनका परिणाम अवश्यम्भावी है, फिर वे योगीके लिये पुनर्जन्म देनेवाले क्यों नहीं होते, इसपर कहते हैं—*

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

ततः=उसके बाद; **कृतार्थानाम्**=अपने कामको पूरा कर चुकनेवाले; **गुणानाम्**=गुणोंके; **परिणामक्रमसमाप्तिः**=परिणामक्रम (परिणामसम्बन्धी सिलसिलेकी) समाप्ति हो जाती है।

व्याख्या—जब योगीको धर्ममेघ समाधिकी प्राप्ति हो जाती है, तब उसके लिये गुणोंका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, उनका काम जो पुरुषको भोग और अपवर्ग देना है; पूरा हो जाता है, इस कारण उनका जो निरन्तर परिवर्तन होते रहनारूप परिणामक्रम है वह उस योगीके लिये समाप्त हो जाता है। अतः वे भावी शरीरका निर्माण नहीं कर सकते ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—*प्रसंगवश क्रमका स्वरूप बतलाते हैं—*

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

क्षणप्रतियोगी=जो क्षणोंका प्रतियोगी है, (और); **परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः**=जिसका स्वरूप परिणामके अन्तमें समझमें आता है, वह; **क्रमः**=क्रम है।

व्याख्या—कोई भी वस्तु जब किसी एक रूपसे दूसरे रूपमें बदलती है या एक रूपमें रहती हुई भी पुरानी होती चली जाती है, तब वह उसका परिणाम किसी एक दिनमें, एक घड़ीमें या एक पलमें नहीं हो जाता; उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, परंतु जाननेमें नहीं आता। उस वस्तुका दूसरा परिणाम पूर्ण होनेसे यह अनुमानद्वारा जाना जाता है कि यह एक साथ नहीं

बदली है, क्रमसे बदलती रही है (योग० ३ । १५ और ५२ की टीकामें भी क्रमका वर्णन आया है)। इस प्रकार क्रमका ज्ञान परिणामके अन्तमें होनेसे उसे यहाँ 'परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य' कहा है और प्रत्येक क्षणसे इसका सम्बन्ध है। एक क्षणके बाद दूसरा क्षण, उसके बाद तीसरा क्षण—इस तरह क्षणोंके प्रवाहमें जो पूर्वापरका ज्ञापक (जाननेमें निमित्त) है, उसीको 'क्रम' कहते हैं। अतः इसको क्षणप्रतियोगी कहा गया है। क्षणप्रतियोगीका शब्दार्थ यह भी कहा जा सकता है कि जो क्षणोंका प्रतियोगी यानी विभाजक (विभाग करनेवाला) है, वह क्रम है॥ ३३ ॥

सम्बन्ध—पहले बत्तीसवें सूत्रमें गुणोंके परिणामक्रमकी समाप्तिको कैवल्य नाम दिया गया है। उक्त कैवल्यके स्वरूपका प्रतिपादन करके इस शास्त्रकी समाप्ति करते हैं—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ॥ ३४ ॥

पुरुषार्थशून्यानाम्=जिनका पुरुषके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा, ऐसे; **गुणानाम्**=गुणोंका; **प्रतिप्रसवः**=अपने कारणमें विलीन हो जाना; **कैवल्यम्**=कैवल्य है; **वा**=अथवा; **इति**=यों कहिये कि; **चितिशक्तेः**=द्रष्टाका; **स्वरूपप्रतिष्ठा**=अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना (कैवल्य) है।

व्याख्या—गुणोंकी प्रवृत्ति पुरुषके भोग और अपवर्गका सम्पादन करनेके लिये है। इसी कामको पूरा करनेके लिये वे बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा, मन, इन्द्रियों और शब्दादि विषयोंके आकारमें परिणत होते हैं। जिस पुरुषके लिये ये गुण भोग भुगताकर अपवर्ग (मुक्ति) सम्पादन कर देते हैं, उसके लिये उनका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, तब वे अपने प्रयोजनको पूरा कर चुकनेवाले कार्य और कारणरूपमें विभक्त हुए गुण प्रतिलोमपरिणामको प्राप्त होकर अपने कारणमें विलीन हो जाते हैं, यही गुणोंका कैवल्य अर्थात् पुरुषसे अलग हो जाना है और उन गुणोंके साथ पुरुषका जो अनादिसिद्ध अविद्याकृत संयोग था, उसका अभाव हो जानेपर अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना, यह पुरुषका कैवल्य अर्थात् प्रकृतिसे सर्वथा अलग हो जाना है (योग० २ । २५) ॥ ३४ ॥

पातञ्जलयोगदर्शनकी वर्णानुक्रमणिका

॥ श्रीहरिः ॥

गीताप्रेसकी निजी दूकानें तथा स्टेशन-स्टाल

गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५, फैक्स (०५५१) ३३६९९७; फोन (०५५१) ३४७२१

कलकत्ता-	गोविन्दभवन-कार्यालय	✆(०३३) २३८६८९४
पिन-७००००७	१५१, महात्मा गाँधीरोड	२३८०२५१
दिल्ली-	गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान;	✆(०११) ३२६९६७८
पिन-११०००६	२६०९, नयी सड़क	
पटना-	गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान;	✆(०६१२) ६६२८७९
पिन-८००००४	अशोकराजपथ, बड़े अस्पतालके सदर फाटकके सामने	
कानपुर-	गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान;	✆(०५१२) ३५२३५१
पिन-२०८००१	२४/५५, बिरहाना रोड	
वाराणसी-	गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान;	✆(०५४२) ३५३५५१
पिन-२२१००१	५९/९, नीचीबाग	
हरिद्वार-	गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान;	✆(०१३३) ४२२६५७
पिन-२४९४०१	सब्जीमण्डी, मोतीबाजार	
ऋषिकेश-	गीताभवन, गङ्गापार, पो० स्वर्गाश्रम	✆(०१३५) ४३०१२२
पिन-२४९३०४		

स्टेशन-स्टाल

(१) दिल्ली जंक्शन, प्लेटफार्म नं० १२ (२) नयी दिल्ली, प्लेटफार्म नं० ८-९ (३) अन्तर्राज्यीय बस-अड्डा, दिल्ली (४) हजरत निजामुद्दीन (दिल्ली), प्लेटफार्म नं० ४-५ (५) कानपुर, प्लेटफार्म नं० १ (६) गोरखपुर, प्लेटफार्म नं० १ (७) वाराणसी, प्लेटफार्म नं० ४-५ (८) हरिद्वार, प्लेटफार्म नं० १ (९) कोटा (राजस्थान), प्लेटफार्म नं० १ (१०) पटना जंक्शन, पुस्तक-ट्राली (११) हावड़ा, न्यू कॉम्पलेक्स, प्लेटफार्म नं० १८ के पास (१२) मुगलसराय जं०, प्लेटफार्म नं० ३-४ (१३) लखनऊ (N.E.Railway) (१४) सिकन्दराबाद, प्लेटफार्म नं० १ (१५) सियालदा मेन, प्लेटफार्म नं० ८ (१६) धनबाद प्लेटफार्म नं० २-३

अन्य अधिकृत पुस्तक-विक्रेता—श्रीगीताप्रेस पुस्तक-प्रचारकेन्द्र, 'बुलियन बिल्डिंग', जौहरी बाजार, जयपुर-३०२००३ ✆ (०१४१) ५६३३७९

अँग्रेजी एवं दक्षिण-भारतीय भाषा-प्रकाशनके प्रमुख विक्रेता

गोपाल-सेवा ट्रस्ट-८२, कृष्णा टाकीज रोड, इरोड-६३८००३ ✆ (०४२४) २१३९७६